सीता को वन में अकेली छोड़कर कृतान्तवक्र चला गया। इसी बीच पुण्डरीकपुर के राजा वज्रजंघ अपनी सेना के साथ उस वन से निकले और सीता जी का हाल जानकर उन्हें अपनी धर्म बहिन मानकर पुण्डरीकपुर ले आये। वहीं सीता के दो परमवीर पुत्र उत्पन्न हुये। एक दिन जब नारद सीता का हाल जानने वहाँ पहुंचे तो दोनों पुत्रों लव और कुश ने उनका सम्मान किया। जिससे संतुष्ट होकर नारद ने कहा कि तुम्हारा वैभव और बल राम और लक्ष्मण की तरह हो।

तब दोनों पुत्रों लव-कुश ने पूछा कि ये राम-लक्ष्मण कौन हैं? तो नारद ने सारा वृतान्त सुना दिया। दोनों कुमारों ने सारी बात सुनकर राम-लक्ष्मण से युद्ध करने का विचार बना लिया और कहा कि हम अपनी माता के साथ किये गये इस व्यवहार का बदला लेंगे। सीता सोचने लगी कि अब क्या होगा? उन्होंने पुत्रों को समझाया कि श्रीराम के साथ विरोध करना उचित नहीं है। वे तुम्हारे पिता है, तुम बड़ी विनय के साथ जाकर नमस्कार करके पिता के दर्शन करो। यही ठीक रहेगा। पर लव-कुश नहीं माने। माँ से कह दिया कि आप चिंतित मत होओ, हम आपके पुत्र है। वीरों का मिलन युद्ध स्थल में ही होता है। हम वन में आपको अकेला छोड़ने वाले अपने पिता से युद्ध में ही मिलेंगे और माँ को प्रमाण करके अयोध्या की ओर चल पड़े।

जब कर्त्तव्य और न्याय में निपुण हनुमान को लव-कुश की वास्तविकता का ज्ञान हुआ तो वे राम-लक्ष्मण की सेवा को छोड़कर लव-कुश की सेना में आ गये; और कहा कि यही न्याय का पक्ष है। बड़ी विचित्र स्थिति बन गई जो हनुमान पहले राम के साथ थे, आज वे ही श्रीराम के विपक्ष में युद्ध के लिए प्रस्तुत हो गये। क्षत्रिय का धर्म यही है कि न्याय के पक्ष में धर्मयुद्ध करना और अन्याय का समर्थन नहीं करना।

युद्ध प्रारंभ हुआ और देखते-देखते राम-लक्ष्मण का पक्ष कमजोर पड़ने लगा। अंत में जब लक्ष्मण ने चक्ररत्न चलाया तो वह भी लव-कुश के पास पहुँचकर कांतिहीन हो गया। तब शीघ्र ही नारद ने जाकर लक्ष्मण जी को लव-कुश का परिचय दिया और सीता के दु:खों का वृतान्त कह दिया।

तब स्नेह में आकुल होकर राम लक्ष्मण पुत्रों के समीप चल पड़े। दोनों पुत्रों ने भी रथ से उतरकर हाथ जोड़कर पिता को प्रणाम किया। सभी परस्पर मिले। हनुमान ने गद्‌गद होकर श्रीराम को प्रणाम किया और दोनों पुत्रों को गले लगा दिया। सभी समझ गये कि हनुमान ने क्यों राम का पक्ष छोड़ दिया

था। ऐसे न्याय का पक्ष लेने वाले हनुमान धन्य है। जो व्यक्ति न्याय का पक्ष लेता है, उसके पक्ष में सारा विश्व हो जाता है।

सभी के परस्पर मिलन से सभी प्रसन्न थे। हनुमान, सुग्रीव आदि ने राम से सीता जी को वापिस अयोध्या ले चलने की बात कहीं, तब श्रीराम ने कहा कि यद्यपि सीता निर्दोष है, लेकिन सभी के सामने उनकी निर्दोषता प्रकट होनी चाहिये। सीता सहर्ष तैयार हो गई। सभी प्रियजन शोकाकुल हो गये। अग्नि-परीक्षा के लिए अग्नि प्रज्ज्वलित की जाने लगी।

जिनका मन अत्यंत दृढ़ है, ऐसी सीता ने कायोत्सर्ग किया और अग्नि में प्रवेश करने से पहले कहने लगी कि हे अग्नि! यदि राम को छोड़कर किसी अन्य पुरूष को स्वप्न में भी मन-वचन-काय से मैंने चाहा हो तो दूर रहकर भी तू मुझे भस्मसात कर दे और यदि सदाचार में स्थित मैं, सती होऊं तो तू मुझे जला नहीं पायेगी। इतना कहकर जैसे ही सीता ने अग्नि में प्रवेश किया, उसी क्षण अग्नि, जल में परिवर्तित होने लगी। सब ओर जल फैलने लगा और जल के बीच सीता सिंहासन पर बैठी दिखाई पड़ी। देवों ने आकर पुष्पवृष्टि प्रारंभ कर दी। सभी लोग गद्‌गद कंठ से जय-जयकार करने लगे। सभी नतमस्तक हो गए।

श्रीराम हर्षित होकर कहने लगे कि "परीक्षा में पास हो गई। सभी का मन का मैल निकल गया। सीता जी अब घर लौट चलों।' तब सीता ने शान्तभाव से कहा "कि अब भवन कहाँ, अब तो वन में रहना ठीक है। मैं अग्नि परीक्षा में पास हो गई, इससे शील धर्म की लाज बच गई। अग्नि में तपकर मेरे शीलव्रत में निखार आया है। अब तो जीवन पर्यन्त पंचमहाव्रत रूप शील को ग्रहण करूंगी।" इस तरह सब से विरक्त होकर वे वन में जाकर आर्यिका के व्रतों को अंगीकार कर लेती है। केशलुंच करके मात्र एक साड़ी अपने पास रखती है और समस्त आरंभ परिग्रह से मुक्त होकर अर्हन्त प्रभु के ध्यान में लीन होकर विचार करती है कि-

"पाषाणेषु यथा हेमं, दुग्ध-मध्ये यथाघृतम् ।
तिलमध्ये यथा तैलं, देह-मध्ये तथा शिवः।
काष्ठ-मध्ये यथा वह्नि शक्ति-रूपेण तिष्ठति।
अयमात्मा शरीरेषु यो जानाति स पंडितः।।

अर्थात् जिस प्रकार पाषाण में सोना विद्यमान हैं, दूध में घी विद्यमान है, तिल में तेल और लकड़ी में अग्नि शक्ति रूप में विद्यमान है, उसी प्रकार

शक्ति रूप से इस देह में शिव (आत्मा) विद्यमान है। जो ऐसा जानता है वही विद्वान है, ज्ञानी है।

इस प्रकार ध्यान में लीन सीता की वंदना करके गद्‌गद कंठ से श्रीराम कहने लगे कि हे आर्यिका माता! मेरा जीवन धन्य हो गया। आपने यह अंतिम परीक्षा देकर हमें शिक्षा दे दी कि आत्मा पृथक् है और देह पृथक् है। आपका जीवन कृतार्थ हो गया।

यह सब देखकर कुछ समय के उपरान्त हनुमान जी भी संसार से विरक्त हो गये। कह दिया कि अभी तक न्याय का पक्ष लिया, अब आगे आगम का पक्ष, आत्मा का पक्ष लूंगा और वन में जाकर परम दिगम्बर दीक्षा अंगीकार कर ली।

उन्होंने जीवन भर सत्य का साथ दिया और अंत में सत्य को प्राप्त करने के लिए मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ हो गये। मुक्ति को पा गये। वे चरम शरीरी सर्वांग सुन्दर देह को धारण करने वाले थे। उनके सौंदर्य को देखकर स्वर्ग की अप्सरायें भी मुग्ध हो जाती थी। सभी उन्हें चाहते थे, लेकिन वे अपने आत्म स्वरूप में लीन रहना चाहते थे, यही उनकी विशेषता थी।

जहाँ तक मुझे स्मृति है, हनुमान जी का तीर्थक्षेत्र मांगी-तुंगी माना जाता है, जो कि महाराष्ट्र प्रान्त में है। वहाँ पर एक ऐसी ध्यान मग्न प्रतिमा है जिसका मुख दीवाल की तरफ है, जो इस बात की प्रतीक है कि अप्रतिम सौन्दर्य के धनी होकर भी हनुमान जी विश्व से विमुख रहे। अपनी ओर देखने में, आत्मज्ञ बनने में लगे रहे। उन्होंने समस्त बाह्य पदार्थों से हटकर अपने अजर-अमर आत्मतत्व की ओर दृष्टिपात किया।

आज इस जयन्ती समारोह के आयोजक विश्व हिन्दू परिषद् वालों को और उपस्थित सभी लोगों को संकल्प कर लेना चाहिये कि हम श्रीराम के अनुरूप, महावीर स्वामी के अनुरूप और मुक्तिगामी हनुमान के अनुरूप अपने जीवन को बनायेंगे। अहिंसा धर्म का पालन करते हुये हिंसा से दूर रहकर सत्य की उपासना करेंगे। जैन पुराणों के आधार पर मैंने आपके समक्ष यह राम और हनुमान की कथा रखी। इससे उज्ज्वल चरित्र हनुमान का अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम उनका अनुकरण करते हुये उचित मार्ग पर चलें और सिद्धपद को प्राप्त करें।

□□

प्रवचन-प्रमेय

□ सागर के समीपवर्ती ग्राम केसली में आयोजित गजरथ महोत्सव (1986) के अवसर पर हुए प्रवचनों का संग्रह

-ब्र. राकेश जैन जबलपुर

वुन्दवुन्द को नित नमूँ,
हृदय, कमल खिल जाये।
परम सुगंधित महक में,
जीवन मम धुल जाए ।।

१

सन्मति को मम नमन हो, मम मति सन्मति होय।
सुर नर पशु गति सब मिटै, गति पंचम गति होय॥

यह पंचकल्याणक महोत्सव का अवसर आप लोगों को उपलब्ध हुआ है। जनता ने आग्रह किया, प्रार्थना की कि आप भी यहाँ पर आयें, पधारें। हमने कहा- देखो! जैसा अभी पण्डित जी ने कहा- महाराज जी कुछ कहते नहीं। तो भइया! मैं तो वह कहता हूँ जो आत्मा की बात होती है। आत्मा का स्वभाव देखना जानना है। इसलिए क्या होता है? आपको भी देखना है। लेकिन आप कुछ होने से पहले ही देख लेना चाहते हैं, जो सम्भव नहीं है।

वस्तु का परिणमन जिस समय, जिस रूप में होता है। उसी को देखा जा सकता है और उसी का अनुभव किया जा सकता है। रागी, द्वेषी, कषायी, व्यसनी व्यक्ति परिणमन तो कर रहा है किन्तु वह जानना-देखना छोड़कर भविष्य की लालसा में पड़ जाता है। संसार की यही रीति है। यही रीति आप लोगों की पसंद आती है, इसलिए संसार में है। जिस दिन वस्तु का वर्तमान परिणमन हमारा ध्येय बन जाये, पेय बन जाये, ज्ञेय बन जाएं, उस दिन संसार में हमारे लिए कोई भी वस्तु अभीष्ट नहीं रह जायेगी। हमने यही कहा, अभी भी यही कहूँगा और आगे के लिए क्या कह सकता हूँ, पता नहीं? जब कभी पूछा जाए, यही कहता हूँ, नहीं भी पूछें तो भी मैं यही कहना चाहता हूँ कि देखना-जानना अपना स्वभाव है तो, उसे हम भूलें नहीं।

मंगलाचरण में आचार्य कुन्दकुन्द देव को नमोऽस्तु किया गया और प्रार्थना की कि हे भगवन्! जिस प्रकार आपका जीवन निष्पन्न-संपन्न हुआ, उसी प्रकार हमारा भी जीवन सम्पन्न हो। हमारा भी जीवन प्रतिपन्न हो। हम अभ्युत्पन्न मति वाले हों। हमारे पास मति तो है, लेकिन वह मति चौरासी लाख योनियों में भटकने-भटकाने वाली है। उसको हम भूल जायें और आप जैसे बन जायें, बस और कोई इच्छा नहीं।

मोक्षमार्ग इतना बड़ा नहीं है, जितना हमने समझ रक्खा है। हम सोचते हैं कि अनन्तकाल से परिचय में आने पर भी वह अधूरा सा ही लगता है, कभी भी पूरा समझ में नहीं आया, अतः मोक्षमार्ग बहुत बड़ा है। लेकिन मोक्षमार्ग बहुत अल्प-स्वल्प है। कल्पकाल से आ रहे दुःख को शान्ति में

परिवर्तित कराने की क्षमता इसमें है। मोक्षमार्ग बहुत प्रयास करने पर प्राप्त होता है, ऐसा भी नहीं है। यह तो बहुत शान्ति का मार्ग है। जैसे- एक भवन निर्माण कराना था। देश-विदेशों से इन्जीनियरों को बुलवाया गया। उन्होंने नक्शा आदि तैयार कर दस साल तक परिश्रम किया और दस-बीस लाख रुपये खर्च कर, उसे तैयार भी कर दिया। लेकिन वह पंसद नहीं आया। अब तो यही समझ में आता है कि जिस प्रकार तैयार होने में दस साल और लाखों रुपये लगे हैं, वैसे ही इसे साफ करने में और लगेंगे। इन्जीनियरों से पूछा गया- हमें यह पसन्द नहीं है। इसके निर्माण में तो दस साल लग गये, तो क्या इसको गिराने में भी इतना ही समय लगेगा? उन्होंने कहा- नहीं! निर्माण के लिए बहुत समय लगता है, नाश के लिए नहीं। इसी प्रकार "कर्मक्षय के लिए इतने प्रयास जंजाल और उलझनों की कोई आवश्यकता नहीं।" आपने जीवन में बहुत कुछ कमाया है, जमाया है, अर्जित किया है व उसको बांध-कर रखा है, लेकिन अब उसे छोड़ने के लिए लम्बे समय की आवश्यकता नहीं। इतना ही आवश्यक है कि अपनी खुली आँखों को इन पदार्थों की तरफ से मोड़ लें। "दृष्टि नाशा पै धरें" बन्द भी नहीं करना है। मात्र अपनी आंखों के बीच में एक "ऐंगिल" बन जाए- कोण बन जाए तो हमारा दृष्टिकोण भीतर की ओर आ जाएगा, यही पर्याप्त है। वहीं के वहीं परिवर्तन हो जाएगा। सब वस्तुएं वहीं धरीं रहेंगी। सागर, सागर में है, जयपुर जयपुर में है। जयपुर वाले यहाँ पर तभी तक हैं जब तक कि उनका दृष्टिकोण उधर है, सम्बन्ध जोड़ रखा है। लेकिन न जयपुर आपका है, ना हमारा। न सागर आपका है, ना किसी अन्य का। सागर, सागर में है। भवसागर, भवसागर में है। हम तो उसमें तैर रहे हैं। **बस! आप सागर में रहते हैं और हम सागर पर रहते हैं, इतना ही अन्तर है।**

बन्धुओ! सागर पर रहने वाला, भवसागर में रहने वाला नहीं होता। यह संसारी प्राणी नहीं हुआ करता। वह तो मुमुक्षु हुआ करता है। चाहने वाले मोही का नाम मुमुक्षु नहीं हुआ करता। "मोक्तुमिच्छुः मुमुक्षुः" मुमुक्षु, शब्द की व्युत्पत्ति ही कहती है कि वह जोड़ता नहीं, छोड़ने की इच्छा करता है। लेकिन संसारी प्राणी जोड़ने की इच्छा करता है। भैया! आप क्या चाहते हैं, जोड़ना या छोड़ना? जोड़ना चाहते हैं, इसीलिए मैं कहता हूँ भैया! मुमुक्षु की कोटि में नहीं आ सकते। पण्डित जी अभी बोल रहे थे कि क्या छोड़े? जो जोड़ा है, उसे ही छोड़ना है। जिससे हमारी लगन है, प्यार है। जिससे

हमने अपनी तरफ से इंगित किया, प्रयास के साथ अर्जित किया, उसे ही छोड़ना है। लेकिन लगता है यदि भगवान् भी कह दें तो छोड़ना आप लोगों को संभव नहीं हो सकेगा। भगवान् कह भी तो रहे हैं'- कि तुम्हें वही छोड़ना, जो जोड़ा है। मैंने जो जोड़ा है, वह नहीं। पूर्वावस्था से मैंने भी जो जोड़ा था उसे छोड़ दिया। लेकिन अब जो यह जुड़ गया है, वह अब जीवन का अंग/हिस्सा बन गया है। जीवन का स्वभाव धर्म है। धर्म को कभी नहीं छोड़ना है। फिर क्या छोड़ना है? छोड़ना वही है, जो आपने जोड़ा है। मुझे यह नहीं पता कि आपने क्या-क्या जोड़ रखा है? भगवान् का कहना तो इतना ही है कि, जो जोड़ रखा है, जोड़ते जा रहे हो और जो जोड़ने का संकल्प ले लिया है- भविष्य का, जीवन जीने के लिये जो तैयारी करने का प्रयास चल रहा है, बस! उसको ही छोड़ना है। फिर सारा का सारा भविष्य ही अन्धकारमय नहीं हो जाएगा? अन्धकार नहीं होगा। यह जो "आर्टीफिशियल लाइट" है उससे आँखों पर चमक आ रही है। इसको फेंक दीजिए।

वर्तमान में जितना भी प्रकाश है, वह आँखों को खराब करता है। अतः इस प्रकाश को छोड़ दीजिए। **यह प्रकाश, प्रकाश नहीं है। प्रकाश तो वह है, जिसमें कोई भी वस्तु अन्धकारमय नहीं रहे। कोई भी पदार्थ ज्ञातव्य नहीं रहे।** वह प्रकाश लाइये। बाहर से 'स्टोर' किया गया प्रकाश हमारे काम का नहीं। वह अन्धकार के सामने शोर करता है और उसे भगा देता है। लेकिन भगाने वाला प्रकाश, प्रकाश नहीं हो सकता। "प्रकाश तो अपने-आप में सबको लीन कर लेता है, चाहे वह अन्धकार ही क्यों न हो।" समन्तभद्र स्वामी ने स्वंयभूस्तोत्र में कहा- **दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति।**

दीपक का प्रकाश तम को कभी भगाता नहीं, किन्तु तम को ही प्रकाशमय बना देता है। वस्तु का एक स्वभाव-गुण, प्रकाशमय होना भी है तो दूसरा विभाव अन्धकारमय होना। हमारा ज्ञान एक ही है, वही ज्ञान, अज्ञान हुआ है, अब उसे ही ज्ञान की ओर "डायवर्ट" करना है। और कोई क्रिया नहीं, वहीं के वहीं सब कुछ हो जाएगा। कहीं भागना नहीं, कहीं जाना नहीं। किन्तु जो जोड़ने का भाव है, जिसके साथ जुड़न चल रहा है, उसको जानना है, पहचानना है। यह कोई उलझन की बात नहीं। बहुत सीधी-सादी बात है। **मुमुक्षु के जुड़ नहीं रहा, जोड़ नहीं रहा, उसे छोड़ने की इच्छा कर रहा है। उसे छोड़ने की इच्छा, इच्छा नहीं है। वह छोड़ेगा, और ऐसे छोड़ेगा कि बस यूं आँख फेर लेगा। अरे! आँख क्या फेरेगा, उसमें भी तो**

गरदन को व्यायाम करने की आवश्यकता है लेकिन वह तो वहीं के वहीं, वैसा का वैसा ही स्वस्थ हो जाएगा। अब आप भले ही पूछने लग जाएं कि- क्या बात हो गयी, ऐसी कौन-सी उपेक्षा आ गई। उसके लिये तो अब उपेक्षा नहीं, मात्र किसी से भी अपेक्षा नहीं है, इतना ही है। दुनिया की दृष्टि में वह नटखट सा लगने लगता है। जब हमारा पेट भरा हो तब किसी की आवश्यकता नहीं, अपेक्षा नहीं। आप मेहमान बनकर गये हैं। आपके सामने बहुत से व्यंजनों से शोभित थाली परोस दी गई और पूछा जाता है कि आपको क्या दें? क्या चाहिए?..... बस! इतना ही चाहिये कि अब अधिक मत पूछिये। क्योंकि हमारा पेट भरा है। आपने जो अनेक प्रकार के व्यंजन बना रखे हैं, इन्हें इसमें डालें, ऐसा नहीं हो सकता। भरपेट होने पर कोई इच्छा नहीं। इच्छा बताने की आवश्यकता ही नहीं। जहाँ पर अपेक्षा है, वहाँ पूछताछ होती है। जहाँ पर अपेक्षा नहीं, वहाँ उपेक्षा हो गई। इन शब्दों की व्युपत्ति यूं कहना चाहूंगा-

"अपगतं ईक्षणं यस्य सा इति अपेक्षा"

अर्थात् जिसके जानने-देखने की समीचीन दृष्टि ही समाप्तप्रायः है, हो चुकी है, उसका नाम उपेक्षा है। और **"ईक्षणस्य समीपं इति अपेक्षा"** अर्थात् बिल्कुल निकट से देख रहा है। बहुत निकट आ चुका है, इसलिए दूसरे पदार्थों की अपेक्षा नहीं, उसी का नाम उपेक्षा है। समन्तभद्राचार्य ने स्वंयभूस्तोत्र में अरहनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है-

''दृष्टिसम्पदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर! पराजितः''

सम्यग्दर्शन-दृष्टि अर्थात, सम्पत्-आत्मा की सम्पदा ज्ञानधन। समन्तभद्राचार्य ने रत्नत्रय की विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न शब्दों से बात कही है, सम्पद् यानि वीतराग विज्ञान। ज्ञान नहीं, मात्र वीतरागविज्ञान। चारित्र के लिए भी उन्होंने ऐसा शब्द चुना जिसे दुनिया ''उपेक्षा'' की दृष्टि से देखती है, रागद्वेष की दृष्टि से देखती है। चारित्र के लिए ''उपेक्षा'' भी बोलते हैं। जिसके पास आना किसी को इष्ट नहीं। दूर जाना तो बहुत इष्ट है सरल है। समझने के लिए-कोई व्यक्ति निर्धन था, अब उसे कुछ धन मिल गया तो उसमें गति आ गई। पहले गति तो थी लेकिन पैरों में थी। पैरों से पैदल चलता था। अब भी पैरों में गति है, लेकिन अब पैडल चला रहा है। साइकिल पर बैठ गया है। गति हो गई, प्रगति हो गई, किन्तु अभी रास्ते पर चल रहा है। जब विशेष रूप से धन कमाता है तो मोटरसाइकिल ले आता है। पहले ''बाइसिकल''

थी अब ''मोटरसाइकिल'' आ गई। यदि और धन आ जाता है तो उसमें गति और तेज हो जाती है। गति तो तेज होती है, पर आत्मा को छोड़कर, केन्द्र को छोड़कर, बाहर की ओर होती है। आत्मा को बहिरात्मा बना देता है धन। जिससे भागने लगता है तेज चलने से ''एक्सीडेन्ट'' हो सकता है। धन की वृद्धि से वह अब मोटरसाइकिल से कार पर आ जाता है इससे आगे कार से भी ऊपर उठने लगता है। कार भी बेकार लगने लगती है तो प्लेन की बात आ जाती है। जैसे-जैसे धन बढ़ता गया, वैसे वैसे भौतिक विकास तो होता गया, लेकिन धर्म को नहीं समझ पाया, जो इसकी निजी सम्पदा है। इस प्रकार धन के विकास में संसारी प्राणी अपनी निजी सम्पदा अर्थात् ज्ञान का दुरुपयोग भी करता जा रहा है।

कल्पना करिये, जो पैदल यात्रा करता है, यदि वह गिर जाता है तो क्या होता है? थोड़ी-बहुत चोट लग जाती है। फिर उठ जाएगा और चलने लग जायेगा। यदि साइकिल से गिर जाए तो? थोड़ी ज्यादा चोट लग सकती है। यदि मोटर साइकिल से गिरे तो? उसे उठाकर अस्पताल लाना होगा। यदि कार से दुर्घटना हो जाए तो? गंभीर समस्या हो जाती है और यदि प्लेन से यात्रा करते हुये "एक्सीडेन्ट" हो जाता है तो? वह तो देवलाक ही चला जाता है। दिवंगत हो जाता है। उसके मृत शरीर का दाह संस्कार करने की भी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

बन्धुओं! धन असुरक्षित करता है और धर्म सुरक्षित। समन्तभद्रस्वामी ने कहा- हे भगवान! कामवासना को आपने कौन-से शस्त्रों के द्वारा जीता? कामदेव को आपने अण्डर में कैसे रखा? दृष्टि-सम्यग्दर्शन, सम्पद-सम्यग्ज्ञान और उपेक्षा-सम्यकचारित्र या वीतरागविज्ञान, इन तीनों शस्त्रों के द्वारा ही आपने उस वासना को, जो उपयोग में ही लीन-एकमेक हो रही थी, जीत लिया। अपने वश में कर संयमित बना लिया, नियमित बना लिया। यह रास्ता बहुत सरल है। इसको समझने की ही देर है कि वह सारा का सारा काम समाप्त हो जाएगा जो अनन्तकाल से चला जा रहा है।

ऐसी ही भावनाओं को लेकर कोई भव्य -**कश्चिद्भव्यः प्रत्यासन्ननिष्ठः प्रज्ञावान् स्वहितमुपलिप्सुर्विविक्ते परमरम्ये भव्यसत्वविश्रामास्पदे क्वचिदाश्रमपदे मुनिपरिषन्मध्ये संनिषण्णं मूर्त्तमिव मोक्षमार्गमवाब्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं युक्त्यागकुशलं परहितप्रतिपादनैककार्यमार्यनिषेध्यं निर्ग्रन्थाचार्यवर्यमुपसध सविनयं परिपृच्छति स्म।**

प्रत्यासन्न भव्य, जो प्रज्ञावान्-बुद्धिमान्-ज्ञानवान् है। इन उपाधियों के साथ एक उपाधि है, "स्वहितमुपलिप्सुः" यह मुमुक्षु का सबसे पैनी दृष्टिवाला लक्षण है। मुमुक्षु वही है, जैसा पहले कहा था- "मोक्तुमिच्छुः मुमुक्षुः।" "भोक्तुमिच्छुः बुभुक्षुः" हो जाता है। बुभुक्षु की चाह असमाप्त है और मुमुक्षु अपनी चाह को ही मेटना चाहता है। मुमुक्षु की दृष्टि, धन के विकास में नहीं। जैसे-जैसे धन का विकास चाहेगा वैसे-वैसे यह बुभुक्षु बनता चला जायेगा। भोग के पथ पर संसारी प्राणी अनन्तकाल से चलता आया है। यह ऐसा पथ है **"कापथे पथि दुःखानाम्"** जिस पर "राउन्ड" लगाते हुये भी लगता है कि मैं बिल्कुल नये पथ पर चल रहा हूँ। वह पथ, जनपथ की ओर ले जाता है, जिनपथ की ओर नहीं। जनपथ, जिस पथ पर वासना से युक्त लोग चलते रहते हैं। जिनपथ से विपरीत दिशा की ओर ले जाता है। जनपथ, जिनपथ कदापि नहीं बन सकता।

आज की यह आयोजना, जिनपथ पर चलने के लिए ही है। राग के समर्थन के लिए नहीं, वीतरागता एवं वीतरागी के समर्थन के लिए है। हमें धन का समर्थन-परिवर्तन नहीं करना किन्तु उसका परिवर्तन/विसर्जन करने का काम, इस अवसर पर करना है। धन के द्वारा नशा, वासना का ऐसा रंग चढ़ जाता है, जिससे लगता है कि हम बहुत सुख का अनुभव कर रहे हैं। लेकिन ध्यान रखिये! जैसे-जैसे धन बढ़ता जायेगा वैसे-वैसे धर्म ओझल होता जायेगा एवं उसका पथ भी। पथ पर चलने के लिए बोझिलपना भी आता - जाता है। जहाँ से उपासना प्रारम्भ होती है, वहाँ बढ़ने के लिए स्वप्रेरित है। आत्मा को/जीव को उस ओर बढ़ने के लिए धन का विसर्जन आवश्यक होता है। इस प्रकार सारी इच्छाओं को विसर्जित कर अपने हित को चाहने वाला वह भव्य कहा जा रहा है "क्वचिदाश्रमपदे मुनिपरिषद्मध्ये" एकान्त स्थल में जहाँ मुनि-महाराजों की मण्डली के बीचों बीच बैठे हैं, आचार्य महाराज! वह रागी नहीं, वासनाग्रस्त नहीं, मोही नहीं, परम वीतरागी हैं। युक्ति और आगम में कुशल हैं। कुछ बोलते नहीं, वह तो अपनी मुद्रा के द्वारा, वीतरागछवि के द्वारा, नग्नकाया के द्वारा मोक्षमार्ग का, बिना मुख खोले उपदेश दे रहे हैं। जैसा कि पण्डितजी ने कहा था "चलते फिरते सिद्धों से गुरु" ऐसे सन्त जो अरहन्त के उपासक है, धनपति के नहीं। धन की चाह नहीं। जो चाह की दाह में झुलसा हुआ अपना आत्मतत्व है उस आत्मतत्व को बाहर निकाल कर, धर्मरूपी परमामृत में उसे डुबोना चाह रहे हैं, ताकि

अनन्तकाल की दाह, झुलसन, उत्पीड़न और जलन शान्तिरूप परिवर्तित हो जाये।

इसी प्रकार शान्ति की तलाश में निकला वह भव्य सोचता है कि- वर्तमान में जो चीजें अच्छी लग रही है, वे चीजें जहाँ तक अच्छी लगती चली जायेंगीं, वहाँ तक उनके सम्पादन में लगा रहूँगा। और यह सब जनपथ का ही माहौल है। इससे मेरा उद्धार होने वाला नहीं। वह इस पथ से हटकर अपने हृदय में एक अद्‌भुत किरण की उद्‌भूति चाहता है। अतः जनपथ को छोड़कर जिनपथ की ओर आया है। वह ऐसे मुनिराज आचार्य महाराज को देखकर कहता है- आज मैं कृतकृत्य हो गया। मुझे आज समझ में आ गया। **मैंने जो अन्यत्र देखा वह यहाँ पर देखने को नहीं मिला और जो यहाँ पर देखा, वह अन्यत्र देखने के लिए नहीं मिला। सुख की मुद्रा देखने का अवसर आज मिला। सुख की मुद्रा यही है। अन्यत्र तो मात्र उसका अभिनय है।**

नग्नकाया में रहने वाली आत्मा के अंग-अंग से वीतरागता फूट रही है। यही एक मात्र आत्मतत्व का दिग्दर्शन है। यही हितकारी मुद्रा है। हितैषी है। हितैषी का मतलब लोक हितैषी या स्वहितैषी? किसका हित? क्या संसार का हित करने की आप सोच रहे हैं? तो संसार का हित करने के लिए स्वयं अपने आपका हित करना आवश्यक है। **जो व्यक्ति हित के पथ पर नहीं चलता वह दूसरों का हित नहीं कर सकता। मात्र हित की बात कर सकता है, लेकिन हित से मुलाकात नहीं कर सकता। हित की बात करना अलग है और हित से मुलाकात अलग। मुलाकात में उसका साक्षात्कार है, बात में नहीं।** ऐसे हितकारी आत्मतत्व को दिखा नहीं सकते क्योंकि वह देखने में आता भी नहीं। पण्डित जी अभी-अभी कह रहे थे कि- जीवतत्त्व को पहचानना आवश्यक है। ठीक है! लेकिन उसके साथ यह भी कह गये कि अध्यात्म ग्रन्थ आत्मतत्त्व का साक्षात् स्पर्श करा देते हैं। बात प्रासंगिक है, इसलिये मैं उठाना आवश्यक समझता हूँ, ताकि चार-पांच दिनों तक उस पर विचार-विमर्श हो जाए।

सन्तों ने, धर्मात्माओं ने, लेखकों ने और विद्वानों ने जिनवाणी को मां की कोटि में रखा। उन्होंने कहा-

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवहिं गंथियं सम्मं।
पणमामि भत्तिजुत्तो, सुदणाणमहोवहिं सिरसा॥

उस श्रुतसागर को मेरा नमस्कार हो, जिस श्रुतसागर का उद्‌भव सर्वप्रथम वीरप्रभु से हुआ है, जिन्होंने अर्हन्त पद प्राप्त किया। उसके उपरान्त उसका विश्लेषण किया गणधर परमेष्ठी ने। वीर प्रभु ने हमें साक्षात् शाब्दिक वाणी नहीं दी, क्योंकि शब्दों का एक जाल होता है, सीमा होती है, शक्ति होती है और अपनी सामर्थ्य भी। जबकि वस्तु तत्त्व का विश्लेषण अनन्त होता है। शब्दों में अनन्त को बांध सकने की सामर्थ्य नहीं। इसलिए वस्तुतत्त्व उन शब्दों की पकड़ में आने वाला नहीं। अतः भगवान् ने (वीरप्रभु ने) जो बखान किया, वह अर्थश्रुत है। अर्थश्रुत को ही विश्व के सामने रखा। अब आप समझ लीजिये, अर्थश्रुत अलग है और शब्दश्रुत अलग। दोनों में बहुत अन्दर है। शब्दश्रुत वह वस्तु है जो हम लोगों तक "डायरेक्ट लाइन" से मिलती है, सीधे अर्थ बोध कराता है। जबकि अर्थश्रुत- "इनडायरेक्ट लाइन" को माध्यम बनाकर अर्थबोध कराता है। जैसे विद्युत् लाइन दो प्रकार की होती है, एक पावर वाली और एक घर की। पावर वाली लाइन "डायरेक्ट" होती है और घर वाली "इनडायरेक्ट" मिलती है। वह स्टोररूम से शाखा-उपशाखाओं में विभक्त होकर घर तक दी जाती है, तभी वह जीरो वाट से सौ वाट तक के लिए पर्याप्त होती है। इसी प्रकार भगवान् ने जो अर्थश्रुत दिया, वह अनन्तात्मक है, वह साक्षात् रूप में हमारे काम का नहीं। उसको सुनकर गणधर परमेष्ठी भी उसका अनन्तवां भाग समझ पाये। अर्थात् भगवान ने जो कहा, वह अनन्त और जो गणधर परमेष्ठी के पल्ले पड़ा, वह उसका भी अनन्तवां भाग। छद्‌मस्थ के पास ऐसी कोई भी शक्ति नहीं, जो अनन्त को झेल सके। गणधर परमेष्ठी हमारे पूज्यनीय, हमसे बड़े हैं, लेकिन वह भी छद्‌मस्थ ही हैं। इसलिए अनन्त को झेलने की क्षमता उनके पास भी नहीं। इसके बाद, उन्होंने जितना झेला, उसे पूरा का पूरा द्वादशांग के रूप में नहीं दे सके। कोई भी "माइण्ड" ऐसा नहीं है जो जितना विचार करे और उतने को, पूरे को ही शब्द का रूप दे सके। शब्द में उतना आ नहीं सकता। क्योंकि विचार या जानना वह तो बहुत प्रवाह के साथ होता है, लेकिन शब्द उसको बांधता है, जो आसान नहीं।

जिस प्रकार नदी प्रवाहक बहुत होती है, परन्तु बीच बीच में ४० या ५० मील पर बांध बांधकर काम लेते हैं, उसी प्रकार अनन्तप्रवाहरूप श्रुत को एक मात्र बांध के रूप में संग्रह किया, जिसका ही नाम जिनवाणी है। गणधर परमेष्ठी ने उन तत्त्वों को जो कि सांसारिक उलझनों में भी काम आने की गुंजाइश रखते है, समीचीन रूप से पिरोया है। अनन्तत्त्वों को कभी गूंथा या

संग्रहीत नहीं किया जा सकता। उनको मात्र जाना जा सकता है। गणधर परमेष्ठी ने अनन्त को अभी नहीं जाना, कैवल्य के उपरान्त जानेंगे, यह बात अलग है।

भगवान् ने जो जाना वह अनन्त, जो कहा, वह अनन्तवां हिस्सा। इसके बाद गणधर प्रभु ने जो समझा, झेला वह उसका भी अनन्तवां हिस्सा तथा जिसको शब्द का रूप दिया, वह उसका भी अनन्तवां हिस्सा। इसके उपरान्त, जो द्वादशांग के रूप में कहा गया, वह भी उसका अनन्तवां हिस्सा, जिसको ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के नामों से जाना जाता है। इसके बाद-

"भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्"

इसके अनुसार क्षीण होता गया। जैसा हम लोगों का पुण्य उसी के अनुरूप यहाँ आ करके खड़ा हुआ है। आज एक अंश का भी ज्ञान नहीं है। जिन कुन्दकुन्द भगवान् को हम मंगलाचरण में याद करते हैं, उनको भी एक अंग का ज्ञान नहीं था। ऐसा जिनवाणी ही उचरती है। जितना था, उतना तो था, लेकिन इतना नहीं था जितना कि हम समझ लेते हैं। उनको अनन्त ज्ञान नहीं था। एक अंग का भी ज्ञान नहीं था, क्योंकि अंग का पूर्ण होना अलग है और उसके कुछ-कुछ अंशों का ज्ञान होना अलग। इसी कालक्रम में जिनवाणी की यह स्थिति आ गई कि उसे चार अनुयोगों के रूप में बांटा गया। चार अनुयोगों की जो परिभाषा वर्तमान में हम लोग समझते हैं, वह प्राय: सम्यक् नहीं है। हमें जिनवाणी मां की सेवा करना है तो उसके स्वरूप को भी समझना होगा। तभी नियम से उसका फल मिलेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। मां हमें मीठा-मीठा दूध पिलाती है, जिसमें कि मिश्री अधिक होती है क्योंकि उसे ही खिलाने-पिलाने का ज्ञान होता है। इसके साथ-साथ अच्छी-अच्छी बातें समझाने वाली मां ही होती है।

जिनवाणी- प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार भागों में बांटी गई। लेकिन प्रथमानुयोग क्या है? करणानुयोग क्या है? चरणानुयोग क्या है? द्रव्यानुपयोग क्या है? यह जानना बहुत ही आवश्यक है। इसको समझे बिना जिनवाणी को सही-सही जाने बिना भटक जायेंगे। जिनवाणी ऐसे-ऐसे "प्वाइन्ट" दे देती है जिससे हमारा कल्याण बहुत जल्दी हो सकता है/हो जाता है। वह हमें "शार्टकट" भी बता देती है। हमारा जीवन बहुत कम/छोटा है, उसमें भी काल का सदुपयोग हो तभी जिनवाणी का सही-सही ज्ञान एवं जिनवाणी के सहारे से चारों अनुयोगों का सही-सही ज्ञान हो सकता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी हुए हैं जो पहले भगवान् की प्रार्थना

ना कर परीक्षा लेते थे और बाद में ऐसे "सरेण्डर" हो जाते थे कि उन जैसे शायद ही कोई अन्य मिले। इतनी योग्यता थी उनमें। उन्होंने कहा-

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोध: समीचीन:॥

भगवान् आपका प्रथमानुयोग बोधि और समाधि को देने वाला है। बोधि-रत्नत्रय की प्राप्ति। समाधि- अन्तिम समय सल्लेखना के साथ समता के परिणाम अर्थात् रत्नत्रय को देने और उसमें सफलता प्राप्त कराने की क्षमता इस प्रथमानुयोग में है। प्रथमानुयोग बहुत "राउण्ड" खाकर तत्त्व पर भले ही आता है लेकिन प्रथमानुयोग पढ़ने के उपरान्त समन्तभद्र स्वामी जैसे कहते हैं कि यह बोधि और समाधि का निधान अर्थात् भण्डार है। यह तो प्रथमानुयोग की बात हुई। अब चरणानुयोग क्या है इसे कहते हैं-

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षांगम्।
चरणानुयोगसमयं, सम्यग्ज्ञानं विजानाति॥

चरणानुयोग हमें चलना-फिरना सिखाता है। कैसे चलें और किस ओर चलें? इसका निर्णय तो हमने कर लिया, किन्तु चाहे सागार हो या अनगार, दोनों के लिए उस ओर जाने के लिये साथ में पाथेय होना अनिवार्य है। वह पाथेय इस चरणानुयोग से मिलता है। इसके बारे में कोई विशेष चर्चा की आवश्यकता नहीं है। मात्र करणानुयोग और द्रव्यानुयोग को ही सही-सही समझना है कि करणानुयोग क्या है? और द्रव्यानुयोग क्या है? इन दोनों के बारे में बहुत-सी भ्रान्तियां हुई हैं। समन्तभद्राचार्य ने करणानुयोग के लिए कहा है-

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामति-रवैति करणानुयोगं च॥

जहाँ पर लोक और अलोक का, चारों गतियों का, नरक-स्वर्गादिक का विभाजन हो, अथवा कम शब्दों में कहे तो भौगोलिक-स्थितियों का वर्णन करने वाला करणानुयोग है। करणानुयोग का अर्थ हुआ- भौगोलिक जानकारी देने वाला। जैनाचार्यों के अनुसार भूगोल किस प्रकार का है, यह करणानुयोग बताता है और खगोल किस प्रकार का है यह भी। "गोल" होने की बात को गोल कर दीजिए क्योंकि यह तो आज विसंवादित विषय है। मैं तो यहाँ पर करणानुयोग का विषय बताना चाहता हूँ। नरक, स्वर्ग, नदी, पहाड़, समुद्र, अकृत्रिम चैत्यालय और ऊर्ध्व-मध्य-अधोलोकों के विस्तार को आदर्शमिव-

दर्पण के समान करणानुयोग सब कुछ स्पष्ट करता है सामने रख देता है। ये चराचर जीव-

चौदह राजु उत्तंग नभ, लोक पुरुष संठान।
तामें जीव अनादितैं भरमत है बिन ज्ञान।।

इस लोक में, संसार में भ्रमण सब-चराचर जीव कर रहे हैं। यह सब ज्ञान करणानुयोग से होता है। संस्थानविचयधर्मध्यान के लिए यह सब जानना आवश्यक है। यह जानना अनिवार्य है कि कौन-कौन जीव, कहाँ-कहाँ भटक रहे हैं? हम कहाँ पर भटक रहे हैं? हमारा कहाँ उद्धार होगा? किन कारणों के द्वारा उद्धार हो सकता है? क्षेत्र की अपेक्षा भी ज्ञान होना चाहिए कि हम कहाँ पर रह रहे है? निराधार तो नहीं है? कौन-सा आधार है? यह सब ज्ञान होना आवश्यक है।

अब द्रव्यानुयोग आ गया। द्रव्यानुरोग का रहस्य समझना बहुत कठिन है, बहुत गहरा है। अतः पहले उसे परिभाषित करना चाहूँगा। आचार्य समन्तभद्र स्वामी के शब्दों में-

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते।।

समन्तभद्राचार्य ही एक ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने सारी अनुयोगों को बहुत स्पष्ट किन्तु अल्प शब्दों में बहुत गहरे अर्थ के साथ परिभाषित किया। संसार में छोड़ने योग्य मात्र पाप और पुण्य, ये दो ही है, तीसरी कोई वस्तु नहीं। इन दोनों बन्धनों में ही सभी बंधे हुए हैं। उनको हम छोड़ना चाहते हैं, लेकिन छूटे कैसे? कब और किस विधि से? इसका वर्णन करने के लिए आचार्यो ने द्रव्यानुयोग की रचना की। बन्ध क्या है और मोक्ष क्या? आस्रव क्या और संवर क्या? किस गुणस्थान में कौन-कौन से कर्मो का आस्रव होता है और किस-किस का बन्ध? आस्रव और बन्ध ही तो संसार के कारणभूत है। इनके द्वारा हमारा कभी भी कल्याण होने वाला नहीं। संवर और निर्जरा; मोक्ष तत्त्व के लिए कारण है, मोक्षमार्ग है। मोक्षतत्त्व इनसे भिन्न है। इस प्रकार का विभाजन द्रव्यानुयोग में किया गया है। इन सातों तत्त्वों नव पदार्थो और छह द्रव्यों का जानना द्रव्यानुयोग से होगा। आप पूछ सकते हैं कि द्रव्यानुयोग में कौन-कौन से ग्रन्थ लेना चाहिए? क्योंकि कुछ लोगों की धारणा यह हो सकती है कि द्रव्यानुयोग में केवल समयसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थ ही आते हैं। लेकिन ऐसा नहीं है।

इसके दो भेद करने चाहिए। जैसा कि अभी पण्डित जी ने भी कहा था

कि आगम और परमागम दो नाम आते है। जैनाचार्यों ने इसे आगम और अध्यात्म नाम दिये हैं। "अध्यात्म" यह शब्द हमारा नहीं है बल्कि **आचार्य वीरसेन स्वामी** ने धवला की १३ वीं पुस्तक में उपयोग किया है। दो भेद ही गये- आगम और अध्यात्म। अब आगम के भी दो भेद करने चाहिए- दर्शन और सिद्धान्त। दर्शन-जो षट्दर्शनों का बोध देने वाला है अर्थात् न्याय की पद्धति को लेकर जैसा आचार्य समन्तभद्र, अकलंकदेव, पूज्यपादस्वामी आदि कई आचार्यो ने न्याय की पताका फहरायी, न्याय का बोध कराया, उसे दर्शन कहते हैं। उन्होंने जैनतत्त्व क्या है? इसको दर्शन के माध्यम से हम विश्व को समझा सकते है, सिद्धान्त और अध्यात्म के माध्यम से नहीं। अध्यात्म के माध्यम से समझाया नहीं जाता, किन्तु वह तो, हमारे पास क्या है? हमारी स्थिति क्या है? इसकी जानकारी करा देता है। वह आत्मतत्त्व को स्पष्ट रूपेण बता देता है। वैसे तो आत्मतत्त्व को सब लोग मानते हैं परन्तु वे सभी अध्यात्मनिष्ठ नहीं हैं। इस प्रकार दर्शन और सिद्धान्त में भेद है। दर्शन के ग्रन्थों में भी न्याय-ग्रन्थों को संगृहीत करना चाहिए।

सिद्धान्त के दो प्रकार "जीवसिद्धान्त" और "कर्मसिद्धान्त" जानना चाहिए। कर्मसिद्धान्त में बन्ध क्या, मोक्ष क्या, संवर क्या और आस्रव क्या? यह सभी कुछ बताया जाता है। और जीव सिद्धान्त में जीव के दो योनिस्थान अर्थात् वह कहाँ-कहाँ पर रहता है? उसको जानने के लिए, ढूंढने के लिए मार्गणा के अनुसार ढूंढना होगा, इस प्रकार का वर्णन होता है। षट्खण्डागम में मार्गणा के ईहा, ऊहा, अपोह, मार्गणा, मीमांसा आदि नाम बताये है। यानि जीवसिद्धान्त के बारे में और कर्मसिद्धान्त के बारे में ऊहापोह करो, छानबीन करो। इस प्रकार आगम के भेद, दर्शन और सिद्धान्त को समझा। अब अध्यात्म की ओर आते है।

अध्यात्म को भी दो प्रकार से, एक भावना और दूसरा ध्यान, जानना चाहिए। भावनाओं में बारहभावना, सोलहकारणभावना, मेरी भावना और तपभावनाएं आदि-आदि लेना चाहिए। जिन भावनाओं के माध्यम से "डीप" उतर सकते हैं, उन्हें लेना चाहिए।

"वैराग्य उपावन माई, चिन्ते अनुप्रेक्षा भाई"

छहढाला की पंक्ति है यह। छहढालाकार दौलतरामजी ने जो गागर में सागर को समाहित कर दिया। अर्थात् भावना के साथ ही लक्ष्य में विशेष लगाव होता है। एक आंग्ल कवि ने कहा- भोजन करने से पहले भोजन की भावना आवश्यक है। इससे भूख अच्छी लगती है, कड़ाके की लगती है,

जिसे उदीरणा कहते है? भोजन के समय एक आमन्त्रण और एक निमन्त्रण, ये दो चीजें होती हैं। नहीं समझे। आमन्त्रण करके जल्दी से नहीं बुलायेंगे। एक बार कहकर चले जाएँगे। ताकि आप लोग अन्य भावनाओं से निवृत्त होकर केवल भोजन की ही भावना करें। २-३ घण्टे होने पर कड़ाके की भूख आ जाएगी तब आप भोजन को बैठेंगे। अर्थात् भूख अच्छी खुल जानी चाहिए। इसे अपने शब्दों में कहें-यदि भोजन करना है तो अच्छे ढंग से करो। इसलिए आपको ८ बजे बता देंगे कि भोजन अच्छा होगा, स्वादिष्ट होगा अमुक-अमुक चीजें बनेंगी, पर्याप्त मात्रा में मिलेंगी, लेकिन १२ बजे मिलेंगी- कहा जाता है।

यही बात भावना की है, वैराग्य की है। आप लोग ऊपर छत्र अर्थात् पंखा लटका रहे हैं- चला रहे हैं। और कहें- **"पल रुधिर राध मल थैली कीकस वसादिते मैली"** तो कभी भी शरीर के प्रति वैराग्य होने वाला नहीं। फिर कैसे हो? यह बहुत गन्दा है, ऊपर गन्ध न लगाकर गन्दगी की अनुभूति करिये, अपने आप ही इसके प्रति घृणा हो जाएगी। आज तो आप लाइफवाय लगा लेते हैं, क्रीम लगा लेते हैं। आप हमाम का प्रयोग करें, टीनोपाल के कपड़े पहनकर, स्नो लगाकर बारह भावनाओं का चिन्तन करना चाहते हैं, लेकिन इस विधि से तो बारह भावनाओं में न उतरकर, वैराग्य में न डूबकर, निद्रादेवी से घिर जाते है। यह वासना की स्थिति है। जिसका वर्णन हम नहीं कर सकते। इसलिए भावनाओं का सही रूप रखें, तब ही अध्यात्म में ज्ञान की गति होगी।

अब ध्यान की बात आती है। ध्यान कैसे करें और कौन करे? ध्यान की चर्चा तो समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि कुन्दकुन्ददेव का जितना भी साहित्य है, वह करता ही है, लेकिन उस साहित्य के अनुरूप लीन होने की क्षमता किसमें है? स्वसमय में ही वह क्षमता है। **आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि मैंने तो एक ही गाथा में सब कुछ कह दिया, जो कहना था। वह यह कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से युक्त स्वसमय है तथा 'पर' में स्थित वह परसमय है। यह स्वसमय एवं परसमय की चाकलेट जैसी परिभाषा है।** मैं कुन्दकुन्द देव की एक-एक गाथा को चाकलेट समझता हूँ। चाकलेट कौन खाता है और कैसे खायी जाती है? चाकलेट खायी नहीं जाती, चूसी जाती है। कौन चूसता है? खाली पेट वाला? नहीं। खाली पेट वाला तो तीनकाल में नहीं चूस सकता। उसको तो

भूख लग रही है। जल्दी-जल्दी खा लेना चाहता है, स्वाद भी नहीं ले सकता। वह यदि चाकलेट खाता है तो उसको कोई फल नहीं, कारण चाकलेट खाने की चीज ही नहीं। मैं सही सोच रहा हूँ कि एक ही गाथा के द्वारा स्वाद ऐसा आ जाता है, फिर चार सौ उनतालीस की क्या आवश्यकता। कोई भी एक गाथा ले लीजिए, उसमें भी वही है। जिसको संसार के भोगों की भूख है, वह इन गाथाओं को चाकलेट के रूप में काम न लेकर सीधा खा जाएगा और कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा निहित स्वाद को नहीं ले सकेगा। आज प्रायः यही हो रहा है। सारा समयसार मुखाग्र है। **अरे! समयसार को मुखाग्र करने की जरूरत नहीं, हृदयंगम करने की आवश्यकता है।** आज समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि का जो असर पड़ा है, मात्र सिर तक ही पड़ा है। यदि भीतर उतर जाएंगे तो आपको ज्ञात होगा कि यह समयसार ग्रन्थ भी, जो बाहर दीख रहा है, भार हो जाएगा। यह ग्रन्थ भी ग्रन्थि का रूप धारण कर लेगा। किसके लिये? जो पेट भर खा लेता है। उसे पेट भरने के बाद कोई भी अच्छी से अच्छी वस्तु दिखा दीजिए तब यही कहा जाएगा- "उहूं! भैया! ऐसा क्यों कह रहे हो? मान नहीं रहे आप तो मैं क्या करूं? नहीं एक और ले लीजिए? भैय्या! लेने को तो ले लूंगा, परन्तु उल्टी हो जाएगी।

उसी तरह समयसार पढ़ने के उपरान्त रागद्वेष की बात समझ में नहीं आती। चमक-दमक की ओर दृष्टि हो, स्व से बाहर आना खतरनाक न लगे, यह सब समझ में नहीं आता। पण्डितजी अभी कह रहे थे- मुनि महाराज बाहर आ जाएं तो पंचपरमेष्ठी- परमात्मा और भीतर रहे- चले जाए तो आत्मा। आत्मा और परमात्मा को छोड़कर कुछ नहीं है। बिल्कुल ठीक। लेकिन अन्दर बाहर यह क्यों हो रहा है? जब तक सोलहवीं कक्षा पार नहीं कर ले तब तक यह होगा, कारण उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के "सब्जेक्ट" होते है परन्तु एम. ए. में एक ही रहेगा। एम.ए. के आगे वह विद्यार्थी नहीं रहता, परीक्षा नहीं होती। अब आया समयसार में। समयसार अर्थात् शोध, सोलह कक्षाओं में पार होने के उपरान्त ही किया जाता है। लेकिन ध्यान रखिए-

"शब्द सो बोध नहीं,
बोध सो शोध नहीं"

शब्द कहते ही बहुत आगे की ओर चले जातें हैं, परन्तु उसका नाम बोध नहीं। शब्द अलग है और बोध अलग। इसी तरह बोध ही शोध नहीं है। बोध अलग है और अनुभव (शोध)अलग। पहले तो शब्द के माध्यम से बोध

दिया जाता है कि संसार में क्या-क्या है, फिर उसके बाद एक विषय को ध्यान का विषय बनाते हैं।

आजकल की बात बिल्कुल अलग है कि बिना निर्देशक के भी शोध हो रहे हैं। पण्डित जी! आपने भी तो शोध किया है। अजमेर की बात है। जब पहली-पहली बार टोडरमल स्मारक से आये थे आप। उस समय मैं महाराज श्री के पास में ही बैठा था। धोती-कुर्ते में नहीं आये थे, शायद आप पायजामा पहनते थे। उस समय किसी ने कहा था- आप शोध कर रहे हैं। क्या विषय है? टोडरमल जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर। बहुत अच्छी बात है। हमने पूछा- निर्देशक कौन है? सम्भव है "सागर यूनिवर्सिटी" से था कोई। प्रसंगवश ये भी बताया कि आजकल शोध की "थ्योरी" भी कुछ अलग है। आजकल ऐसे ही निर्देशक होते हैं, जिनके "अण्डर" में शोध किया जा रहा है, परन्तु उन्हें उस विषय का ना तो आगे का, ना पीछे का और ना बीच का ही ज्ञान है। वे उन्हें उपाधियां दिला रहे हैं। पण्डित जी! जिन्हें ककहरा भी नहीं आता उनसे आप उपाधि ले रहे हैं। उनसे कोई उपाधि नहीं लेनी चाहिए। यदि उपाधि लेनी ही है तो कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्राचार्य, अमृतचन्द्र जी और जयसेन आदि महान जैनाचार्य है, इनसे लीजिए तो वह वस्तुतः उपाधि कहलायेगी। अध्ययन करना तो वस्तुतः अपने से ही होता है, निर्देशक तो मात्र व्यवहार चलाने के लिए है। आज निश्चय को कोई प्राप्त नहीं करना चाहता। अध्ययन अलग हैं और मनन-चिन्तन अलग। पठन-पाठन और भी अलग है। भिन्न-भिन्न शब्द है, भिन्न-भिन्न वस्तुएं। समभिरूढ़नय की अपेक्षा इनका वाच्यभूत विषय भी बहुत भिन्न-भिन्न है। इसलिए **"शब्द सो बोध नहीं, बोध सो शोध नहीं।"**

हमें आत्मा का शोध- अनुभव करना है, इसलिए सर्वप्रथम ध्यान करना होगा और ध्यान के लिए भावना की आवश्यकता पड़ेगी। भावना, बिना भूमिका के नहीं होती। देख लीजिए संवर के प्रकरण को, आचार्य उमास्वामी आदि आचार्यों ने कहा-

"स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः"

ये जितने भी हैं वह एक दूसरे के लिए निमित्त-नैमित्तिक या कार्य-कारणपने को लेकर हैं। अर्थात् संवर करने के लिए गुप्ति की आवश्यकता, गुप्ति के लिए समिति की, समिति के लिए धर्म की, धर्म के लिए अनुप्रेक्षा की, अनुप्रेक्षा के लिए परिषहजय की और परिषहजय के लिए

चारित्र की आवश्यकता है और चारित्र प्राप्ति करने के लिए सबसे पहले बाधकतत्वों को छोड़ना पड़ेगा।

वत्थुं पडुच्च जं पुण, अज्झवसाणं तु होई जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोत्ति॥

आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् ने एक जगह बन्ध की व्याख्या करते हुए कहा- वस्तु मात्र से बन्ध नहीं होता। बन्ध तो अध्यवसान के कारण होता है। अध्यवसान स्वयं बन्ध तत्त्व है। एक शिष्य ने महाराज से कहा- आपने बहुत अच्छी बात कही कि अध्यवसान से बन्ध होता है, तो हम अध्यवसान नहीं करेंगे। वस्तुओं को छोड़ने की बात अब छोड़ देना चाहिए। आचार्य ने कहा- मैं आपके ही मुख से यह बात सुनना चाहता था। बहुत अच्छी बात कही। मैं वस्तु के लिए कहाँ छुड़वा रहा हूँ? और यदि छोड़ने की कोशिश भी करोगे तो क्या-क्या छोड़ सकोगे? लेकिन मैं पूछता हूँ- वस्तु के प्रति जो राग है, मोह है, उसे भी छोड़ना चाहोगे, कि नहीं? हां! उसको तो छोड़ना चाहूँगा। हमारे अन्दर जो राग, मोह, द्वेष हो रहे हैं, वह वस्तु को बुद्धि में पकड़ रखने के कारण ही हो रहे हैं। इसीलिये हमने पहले वस्तु को छोड़ने की बात कही। समझने के लिए जैसे आपके सामने एक थाली परोस दी गई, भले ही आप भोजन नहीं करना चाहते हैं। आप यह भी कह रहे हैं कि मुझे भोजन की इच्छा बिल्कुल नहीं। फिर भी कहा जा रहा है कि आप अपनी रुचि के अनुसार कुछ भी खा लीजिए। अब आपका हाथ किस ओर जाएगा? बिना अभिप्राय आपका हाथ रसगुल्ला की ओर ही जाए, यह सम्भव नहीं। यह कोई "कम्प्यूटर-सिस्टम" करके हाथ में ज्ञान भर दिया गया है क्या? इसलिए रसगुल्लों की ओर जाता है और वहीं पर रखी है रूखी-सूखी बाजरे की रोटी, उसे नाक सिकोड़कर उपेक्षा की दृष्टि से देख रहा है। आखिर ऐसा क्यों? हमने हाथ को पूछा, क्योंकि आपसे तो कुछ पूछ नहीं सकते, कारण आपने कह दिया- मेरे पास कोई राग नहीं, द्वेष नहीं, इच्छा नहीं। इसलिए हाथ को पूछा। लेकिन हाथ कहता है- मुझे क्या पूछ रहे हो? हम तो केवल काम करने वाले हैं। फिर करा कौन रहा है? भीतर पूछो, भीतर। भीतर कौन पूछे, कौन जाए भीतर? न जाइए, कोई बात नहीं; लेकिन मुखमुद्रा ही हृदय की सूचना है। हृदय में जो बात होगी, वही अंग और उपांग की चेष्टाओं से बाहर आयेगी। **"राग भीतर है तभी वस्तुओं का संकलन हुआ यह बात अमृतचन्द जी ने स्पष्ट रूप से कही आत्मख्याति में" इसीलिए हम**

अध्यवसान से पहले वस्तु को छुड़ा रहे हैं। यदि वस्तुओं को नहीं छोड़ा तो तीन काल में भी अध्यवसान छूटने वाला नहीं।

"बिन जाने तैं दोष गुनन को कैसे तजिये गहिये"

वस्तुओं को छोड़िये और यह भी जानिये कि क्या छोड़ना है? यह ज्ञान जिसको नहीं होता वह तीन काल में भी वस्तुतत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता। हमें गुणों को तो प्राप्त करना है और दोषों को निकालना है। ध्यान रखिये, मात्र बातों के जमा खर्च से कुछ भी होने वाला नहीं, चाहे जीवन भी क्यों न चला जाये, कुछ करना होगा! सर्वप्रथम जो ग्राह्य है उसे जानना-पहचानना आवश्यक है और इसके साथ उसके "अगेन्स्ट" को भी जानना आवश्यक है। उपाय के साथ-साथ अपाय भी जानिए। उस उपाय को प्राप्त करने में किससे बाधा आ रही है, दु:ख क्यों हो रहा है? **दु:ख को समझना ही सुख को प्राप्त करने का सही रास्ता है।** आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने एक जगह कहा- हे भगवन्! हम आपके पास इसलिए नहीं आये कि आप बुला रहे हैं। इसलिए भी नहीं, कि आपकी पहचान पहले से है या आप सुख को जानते-देखते हैं। बल्कि हमें तो ऐसी पीड़ा हुई कि उससे हम भागने लगे और भागते-भागते हर जगह गये लेकिन शान्ति नहीं हुई, परन्तु आपके चरणों में आते ही मन को बहुत शान्ति हो गई, इसलिए आए हैं।

दु:ख को हम छोड़कर आये, पुरुषार्थ हमारा है और भगवान् के सान्निध्य में आये। इधर रास्ते तो बहुत हैं, पथ बहुत हैं, जहाँ-जहाँ भटकने से च्युत होता गया, उनको छोड़ता गया और यहाँ तक आ गया? यही सच्चा पुरुषार्थ है। स्व की ओर मुड़ना ही पुरुषार्थ है।

इस प्रकार द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत- कर्मसिद्धान्त और जीवसिद्धान्त के द्वारा जीव, अजीव, बन्ध और आस्रवादि तत्त्वों को जानिए। इनके १४८ प्रकार के कर्मों के भेद-प्रभेद बारे में जानिए। किस द्रव्य का कैसा-कैसा परिणमन होता है, इसको समझने का प्रयत्न करिये। जैनागम में तीन चेतनाएं- कर्मफलचेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतना ही कहीं गई हैं। कोई चौथी- कालचेतना नहीं। आदि की दो चेतनाओं के द्वारा ही जीव संसार से बंधा हुआ है। एक कर्म करने वाली चेतना, एक कर्म को भोगने वाली चेतना और एक केवल ज्ञान का संवेदन करने वाली चेतना। इन चेतनाओं को भी द्रव्यानुयोग से ही समझा जा सकता है।

'सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विदंति ते जीवा ॥

जिसमें कर्मफलचेतना तो समस्त एकेन्द्रिय जीवों को हुआ करती है जो कर्म के फल को बिना प्रतिकार किये सहन करते रहते हैं। दूसरी कर्मचेतना कर्म करने रूप में है। जिसमें त्रसादिक जीव इष्टानिष्ट के संयोग-वियोग से प्रतिकारादिक की क्रिया या भाव करते रहते हैं। तीसरी ज्ञानचेतना है जिसके संवेदन के लिए आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि उस ज्ञानचेतना की बात क्या बताऊं, जिसका संवेदन (अनुभव) मात्र सिद्धों को ही हुआ करता है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने पंचास्तिकाय में "पाणित्तमदिक्कंता" शब्द लिखा है। जिसकी टीका करते हुए आचार्य जयसेनस्वामी लिखते हैं कि जो प्राणों से अतिक्रान्त/रहित हो चुके हैं यानि दस प्रकार के प्राणों से रहित, वो मात्र सिद्ध परमेष्ठी हुआ करते हैं, उन्हीं सिद्ध परमेष्ठियों के लिए इस ज्ञानचेतना का संवेदन हुआ करता है। धन्य है ज्ञानचेतना जिसकी अनुभूति संसार में रहते हुए केवली अर्हन्त परमेष्ठी को भी नहीं हुआ करती है।

इस प्रकार चारों अनुयोगों के विभाजन को, जो निराधार नहीं, आधार के अनुसार कहा गया। एक बार पुन: द्रव्यानुयोग में आने वाले ग्रन्थों को गिन लें-जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, धवला, जयधवला, महाबन्ध आदि ये सभी सिद्धान्त ग्रंथ एवं समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, द्रव्यसंग्रह आदि अध्यात्म ग्रथं। इसके साथ-साथ भावनाग्रन्थ भी गिनना चाहिए। ज्ञानार्णवकार आचार्य शुभचन्द ने कहा- भावना ही एकमात्र अध्यात्म का प्रवाह है। अत: अध्यात्म तक पहुँचने के लिए अनुप्रेक्षा आवश्यक है। भावना "आर्टिफिशियल" नहीं होना चाहिए। भावना, भावना के अनुरूप होती है तब-

"भावना भवनाशिनी"

भावना ही भव का, संसार का उच्छेद करा देती है। आप लोगों का यह जिज्ञासु-भाव सराहनीय है। आपकी भावना ऐसी ही होती रहे, ऐसी भगवान् से प्रार्थना करता हूँ। आप प्रभावना की ओर न देखकर भावना की ओर देखें और समझें कि हमारी भावना किस ओर बढ़ रही है। यदि विषयों की ओर नहीं है तो मैं समझूँगा कि आज का यह प्रवचन सार्थक है, नहीं तो काल अपनी गति से चल ही रहा है और हम अपनी चाल से। इससे कुछ होने वाला नहीं। हमारे द्रव्य का परिणमन, गुण का परिणमन और आत्मपरिणति, तीनों अशुद्ध हैं, इस अशुद्धता को अनुभव करना हमें इष्ट नहीं। अत: शुद्धि के अनुभव की ओर बढ़े।

२

वस्तु है, और उसके ऊपर आवरण है। वस्तु और उसके ऊपर दूसरे पदार्थों का दबाव है। जब वस्तुएं स्वतन्त्र हैं, अपना-अपना परिणमन करती हैं फिर इन बाहरी वातावरणों से प्रभावित होने का बंधन, आखिर क्यों? इस प्रकार की जिज्ञासा लेकर प्रात:काल कोई भव्य आया था, आचार्यश्री के चरणों में। वह भावुक है, साथ में विवेकवान् भी। उसका लक्षण बहुत अच्छा है कि "अपना हित चाहता है।" बिल्कुल ठीक, उपदेश जो होता है वह न देवों को होता है, न ही तिर्यंचों को। न भोगभूमि के जीवों के लिए होता है और ना नारकियों के लिए। उपदेश मात्र मनुष्यों के लिए है, वह भी जो समवसरण की शरण में गये हैं। वहाँ पर जितना क्षेत्र लांघना आवश्यक था, लांघकर गये हैं। उन्हीं को देशना मिलती है।

देशना देना भगवान् का लक्षण नहीं है, उनका कर्त्तव्य नहीं है। उनके लिए अब कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं। कोई लौकिकता भी नहीं रही। वे बाध्य होकर के भी नहीं कहते हैं। मात्र जो पुण्य लेकर के गया है, सुनने का भाव लेकर के गया है, प्रभु के चरणों में वह उसे पा लेता है। जहाँ तक मुझे स्मरण है, श्वेताम्बर साहित्य में देशना के बारे में कहा है कि- "प्रभु की देशना सर्वप्रथम देवों के लिए हुई" परन्तु इसमें कोई तर्क-तथ्य नहीं बैठता। जो भोगी होते हैं उनके लिए योग का व्याख्यान उपदेश हो, यह संभव-सा नहीं लगता, क्योंकि रुचि के बिना "इन्ट्रेस्ट" के बिना, "प्रवेश या ऐण्टर" संभव नहीं है। उसके बिना भीतरी बात, जो यहाँ चल रही है, उतरेगी नहीं। प्रभु की देशना में बाहरी बात भले ही चलती रहे लेकिन वे सभी भीतर के लिए चलती हैं और वे भीतर ही भीतर गूंजती भी रहती है।

उस भव्य ने हित तो चाहा है और वह हित किसमें है? ऐसा पूछा है। हित मोक्ष में है "स आह मोक्ष: इति" ऐसा आचार्य परमेष्ठी ने कहा, फिर उसे प्राप्त करने के साधनों के बारे में कहा- बात ऐसी है कि साध्य के बारे में दुनिया में कभी विसंवाद नहीं होते, होते हैं तो मात्र साधन को लेकर और उसको लेकर हुए बिना रहते भी नहीं हैं। मंजिल में विसंवाद नहीं होता, मंजिल से पथ की ओर नहीं चलते, बल्कि मंजिल को सामने कर जब चलना चाहते हैं तो पक्ष का निर्माण होता है। सबसे पहले पथ-विचारों में बनते हैं और विचारों के पथ का निवारण कैसे हो? बाह्य पथों में तो मंजिल

की पहुँच से, आसानी से निवारण संभव है, लेकिन विचारों में कैसे? प्रभु कहते हैं कि - उस समय हमारा ज्ञान पंगु ही रहेगा। अनन्तशक्तियों का पिण्ड जो आत्मा है उसमें अन्तरायकर्म के क्षय से होने वाला जो बल, वह भी घुटने टेक देगा; इसमें कोई सन्देह नहीं। उसका बल इतना होकर भी- कितना होकर? तीन लोक की सर्वाधिक शक्ति होकर भी, एक व्यक्ति को भी झुका नहीं सकती। विचारों की पॉवर (शक्ति) बहुत हुआ करती है। विचारों की शक्ति एक कील के समान ही।

एक भैंसा था। बहुत शक्तिशाली होता है भैंसा। एक छोटी-सी कील के सहारे उसे बांध दिया जाता है। यह पूरी शक्ति लगाता है, फिर भी वह कील उखड़ती नहीं। क्यों नहीं उखड़ती? ऐसी क्या बात है? बात ऐसी है, उसके निकालने के लिए पहले हिलाना आवश्यक होता है। बिना हिलाये वह पूरी शक्ति भी लगा दें, तो भी उखड़ नहीं सकती। कुछ ठीक-ठीक मेहनत करने पर उस कील को तो उखाड़ सकता है। परन्तु तीन लोक के नाथ, जो अनन्तशक्ति के सम्पन्न हैं, वे भी एक वस्तु का दूसरी वस्तु के ऊपर पड़ते प्रभाव को, भीतरी वस्तु के परिणमन में बाल-मात्र भी अन्तर नहीं करा सकते। वे निरावरण अपने लिए हुए हैं, दूसरों (हम लोगों) के लिए नहीं।

मोक्ष एक मंजिल है। वहाँ तक पहुँचने के लिए मार्ग की नितान्त आवश्यकता है। क्या है वह मार्ग? तीन बातें हैं- दर्शन, ज्ञान और चारित्र जो कि "सम्यक्" उपाधि से युक्त हैं-

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:"

सम्यग्दर्शन का अर्थ क्या है? **"तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"** कहा है। आप सोचते होंगे कि हम कांच ले लें, चश्मा लगा लें, उपनयन खरीद लें ताकि तत्त्वों को देख सकें और उनके ऊपर श्रद्धान कर सकें। लेकिन नहीं, तत्त्व क्या है? इसकी चर्चा तो बहुत हो सकती है परन्तु "समझ में आ जाए, समझ में बैठ जाए", यह समझ से परे है। यहाँ पर तत्त्व और अर्थ के ऊपर श्रद्धान करने की बात कही गयी है, न कि देखने की। ध्यान रखिये, तत्त्व कभी दीख नहीं सकता। जो दीखता है, वह तत्त्व नहीं। जो दिखाने की कोशिश कर रहे हैं, वे भी दिखा नहीं सकते।

कोविदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पज्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पकट्ठंतं।।

ऐसा कौन-सा विद्वान है, कौन-सा साधु-सज्जन है, जो यह कहे कि आज भी मैं वस्तुतत्त्व को यूं हाथ पर, हथेली के ऊपर रखकर देख रहा हूँ अपनी आंखों से? अर्थात् कोई नहीं। यदि कोई कहता भी है तो वह कहने वाला विद्वान् नहीं हो सकता। चाहे गणधरपरमेष्ठी प्रवचन दें या स्वयं वीरप्रभु। या कोई और भी क्यों न हो, उनके प्रवचन में जो तत्त्व आयेगा वह परोक्ष ही होगा। कोशिश करके अनन्तशक्ति लगा करके भी किसी प्रकार से, किसी की आंखों से वस्तुतत्त्व को दिखा दें ताकि उसका भला हो जाए- यह संभव नहीं। देखने का नाम सम्यग्दर्शन कतई है ही नहीं। किसी भी अनुयोग में देख लीजिए, देखने का नाम सम्यग्दर्शन नहीं। लेकिन "पश्यति-जानाति" इस प्रकार कहा तो है? हां कहा है, टीकाकार ने इसे खोला भी है कि देखने का नाम सम्यग्दर्शन न लेकर यहाँ पर "देखने का अर्थ श्रद्धान लेना चाहिए। प्रात:काल एक बात चली थी कि सम्यग्दर्शन का अर्थ अपनी आत्मा में लीन होना है तथा अभी कहा- तत्त्वों के ऊपर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। बात उलझन जैसी लगती है कि "समयसार" में भूतार्थ का नाम सम्यग्दर्शन है और तत्त्वार्थसूत्र में- तत्त्वार्थश्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन। जो तत्त्वों के ऊपर श्रद्धान करता है, वह चूंकि अभूतार्थ माना जाता है। लेकिन इन दोनों में कोई विपरीतता नहीं है, मात्र सोचने-समझने की बात जरूर है।

श्रद्धान जो होता है, वह परोक्ष पदार्थ का होता है। सामने आने के उपरान्त हमें उन चीजों पर श्रद्धान करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। उसमें लीन होने के बाद का नाम तो संवेदन है; जो कि अध्यात्मग्रन्थों में बार-बार सम्यग्दर्शन के लिए कहा जाता है। आगम ग्रन्थों में भी सम्यग्दर्शन की बात कही है, पर उसमें विभाजन कर दिया गया है। यह विभाजन यह है कि सम्यग्दर्शन श्रद्धान का ही नाम है लेकिन केवल श्रद्धान के द्वारा तीन काल में भी मुक्ति नहीं होगी। ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान है, लेकिन उससे भी, मुक्ति नहीं होगी। इसी प्रकार चारित्र के द्वारा भी मुक्ति नहीं होगी। फिर मुक्ति किससे होगी? मुक्ति होगी, जब भूतार्थता का अनुभव करेंगे तब। अर्थ यह हुआ कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों एक उपयोग की धाराएँ है। जिस उपयोग की धारा के द्वारा तत्त्वों पर श्रद्धान किया जाता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। जब वही उपयोग की धारा चिन्तन में लग जाती है तब सम्यग्ज्ञान कहलाती है। जब कषायों का विमोचन, राग-द्वेष का परिहार करने लग जाती है तो उपयोग की धारा को सम्यक्चारित्र संज्ञा मिल जाती है-

"तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम्। जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानम्। रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रम्। तदेव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनम्। ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतु:।"

अमृतचन्द्राचार्य की आत्मख्याति की ये पंक्तियां हैं। बहुत कठिन लिखते हैं वे, लेकिन भाव तो समझ में आ ही जाता है- ज्ञान का श्रद्धान के रूप में परिणत होना सम्यग्दर्शन, ज्ञान का चिन्तन के रूप में परिणत होना सम्यग्ज्ञान और ज्ञान का रागद्वेष परिहार करने में उद्यत होना सम्यक्चारित्र है। इन तीनों की एकता से ही मुक्ति संभव है, अन्यथा कभी नहीं।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र- ये तीन नहीं हैं किन्तु उपयोग की धारा में जब तक भेद प्रणाली चलती है तब तक के लिए भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। आचार्यों ने अध्यात्मग्रन्थों में इसे खोला है। इसी का नाम सरागसम्यग्दर्शन, भेदसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्दर्शन और शुभोपयोगात्मक परिणति आदि-आदि कहा है। इसी का नाम श्रद्धान भी है। जब तक आत्मा अपने गुणों को प्रत्यक्ष नहीं देख लेता, तब तक उसे समझाना पड़ता है, उपदेश दिया गया है, कि तुम सर्वप्रथम इसको समझो, फिर इसको। समझो का अर्थ- श्रद्धान करो, उतारो। एक बार श्रद्धान मजबूत हो गया तब ही श्रद्धेय, पदार्थ की ओर यात्रा/गति होगी अन्यथा तीन काल में भी संभव नहीं? इसे आचार्यों ने वीतराग सम्यग्दर्शन का साधक सम्यग्दर्शन माना है। उन्होंने कहा है-

"हेतु नियत को होई"

जैसे प्रात:काल भी छहढाला की पंक्ति कही गयी थी, कि निश्चय सम्यग्दर्शन के लिए हेतुभूत यह व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है। व्यवहार सम्यग्दर्शन फालतू नहीं है, किन्तु पालतू है। अभूत नहीं है, वह बाह्य भी नहीं है। अभूतार्थ की व्याख्या "जयसेनाचार्य जी" ने इतनी बढ़िया लिखी है, अमृतचन्द्राचार्य जी ने भी अपनी आत्मख्याति में अभूतार्थ क्या वस्तु है, इसे लिखा है। उन्होंने कहा है- भेदपरक जो कुछ भी है, वह अभूतार्थ है और अभेदपरक "भूतार्थ"। इसको निश्चयसम्यग्दर्शन भी कहते हैं, इसी के साथ, रत्नत्रय की एकता मानी गई है। लीनता मानी गई है। स्थिरता मानी गई है। जिसके द्वारा हमें साक्षात् केवल ज्ञान की उपलब्धि अन्तर्मुहूर्त के अन्दर हो जाती है। यह विभाजन हमें आगम अर्थात् धवला, जयधवला, महाबन्ध, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में नहीं मिल सकेगा। यह मात्र अध्यात्म ग्रन्थों में ही

मिलता है। इसके द्वारा यात्रा पूर्णता को प्राप्त होती है, अन्यथा जो व्यक्ति अपनी यात्रा इस जीवन में नहीं कर पाता तो उसे मुकाम करने की आवश्यकता पड़ेगी। उसका मुकाम बीच में हो होगा, मंजिल पर नहीं। जो सीधे जाना चाहते हैं, उनकी प्रमुखता के साथ यह बात- अभेदरत्नत्रय, की, की गई है।

सरागसम्यग्दर्शन परोक्ष-पदार्थ का हुआ करता है और श्रद्धान तब तक ही होता है, जब तक पदार्थ परोक्ष है। वीतराग सम्यग्दर्शन का विषय "आत्मतत्त्व, शुद्धपदार्थ, शुद्ध अस्तिकाय और शुद्ध समयसार है"- ऐसा आचार्यों ने कहा है। इसको और भी बारीकी से खोलने का प्रयास किया है, उन्होंने कहा है कि- जिस प्रकार केवली भगवान् अपनी दृष्टि के द्वारा शुद्धत्व का अवलोकन करते हैं, वैसा अवलोकन छद्मस्थावस्था में 'न भूतो न भविष्यति।' क्योंकि बात यह है कि चाहे शुद्धोपयोग हो या शुभोपयोग या अशुभोपयोग, कोई भी उपयोग हो, जब तक कर्मों के द्वारा उपयोग प्रभावित होता है, तब तक उसमें वस्तुतत्त्व का यथार्थावलोकन नहीं हो सकता। अतः बारहवें गुणस्थान तक निश्चयसम्यग्दर्शन की संज्ञा दी जाती है। इसके बाद शुद्धोपयोग की परिणति, केवलज्ञान के उपरान्त नहीं रहती। इसका मतलब यह हो गया कि शुद्धोपयोग भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। शुभोपयोग और अशुभपयोग तो है ही नहीं। इसमें उन्होंने हेतु दिया- ध्यान का नाम शुद्धोपयोग है और ध्यान आत्मा का स्वभाव नहीं, अतः शुद्धोपयोग भी आत्मा का स्वभाव नहीं।

"इन्द्रियज्ञानं यद्यपि व्यवहारेण प्रत्यक्षं भण्यते तथापि निश्चयेन केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमेव"

जब इन्द्रियज्ञान की अपेक्षा, मन की अपेक्षा, श्रुत की अपेक्षा और कोई बाहरी साधनों की अपेक्षा से तत्त्वों का निरीक्षण करते हैं, तब शुद्धोपयोग भी "प्रत्यक्ष" संज्ञा को प्राप्त हो जाता है। लेकिन शुद्धोपयोग और केवलज्ञान में उतना ही अन्तर है, जितना सर्वज्ञता और छद्मस्थावस्था में। अध्यात्मग्रन्थों में इस सबका खुलासा किया गया है। जो व्यक्ति इस परम्परा का सही ढंग से अध्ययन करता है, उसके लिए कहीं पर भी विसंवाद का कोई सवाल ही नहीं।

सर्वप्रथम हमें जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होगा वह व्यवहार सम्यग्दर्शन या सराग-सम्यग्दर्शन ही होगा। इसकी उत्पत्ति में दर्शनमोहनीय का और चारित्रमोहनीय

की अनन्तानुबंधी का उपशम क्षय या क्षयोपशम होना अनिवार्य है। इसी का नाम व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इसके बल पर ही आगे कदम उठेंगे। यदि व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं है तो मोक्षमार्ग में आगे कदम उठा सकने का कोई सवाल ही नहीं रह जाता है। महाराज! एक प्रश्न बार-बार आता है कि व्यवहार पहले होता है या निश्चय? कैसे क्या होता है, कुछ यह भी बता दीजिये? भैय्या, निश्चय, व्यवहार के बिना नहीं होता और व्यवहार जो होता वह निश्चय के लिए होता है। अब निर्णय करना है कि कौन पहले होता है, कौन बाद में। मैं तो आपसे यही कहूँगा कि यदि आपको समझना है तो दो की जगह तीन रखिये, अब क्रम स्पष्ट हो जायेगा। लौकिक दृष्टि में हमने निश्चय और निर्णय का भेद समाप्त कर रखा है, इसलिए यह विवाद है। लेकिन बन्धुओं! निर्णय अलग है और निश्चय अलग। सर्वप्रथम निर्णय होता है, क्योंकि निर्णय के बिना अवाय के बिना कदम ही आगे नहीं उठा सकते। और निश्चय संज्ञा जिसको दी गई है उसका अर्थ- "पर्याप्त मात्रा में सब कुछ प्राप्त कर लेना है"। निश्चय का नाम साध्य है। व्यवहार साधन होता है। इस प्रकार जिस साध्य को सिद्ध करना, प्राप्त करना है उसका लक्ष्य बनाना निर्णय है और जिसके माध्यम से, साधन से साध्य सिद्ध होता है वह व्यवहार है तथा साध्य की उपलब्धि होना निश्चय है। इस तरह पहले निर्णय होता है, फिर व्यवहार और अन्त में निश्चय। निर्णय के बिना जो मार्ग में आगे चलते हैं, वह गुमराह हो जाते हैं और व्यवहार के बिना जो व्यक्ति निश्चय को हाथ लगाना चाहते हैं, उनकी क्या स्थिति होती है? तो आचार्य कहते हैं-

ज्ञान बिना रट निश्चय-निश्चय निश्चयवादी भी डूबे।
क्रियाकलापी भी ये डूबे, डूबे संयम से ऊबे॥
प्रमत्त बनकर कर्म न करते अकम्प निश्चल शैल रहे।
आत्मध्यान में लीन किन्तु मुनि, तीन लोक पर तैर रहे॥

अमृतचन्द्रसूरि ने आत्मख्याति के कलश में एक कारिका लिखी, जिसका यह भावानुवाद किया गया है- निश्चय-निश्चय, कहने मात्र से निश्चय कभी हाथ नहीं लग सकता और मात्र व्यवहार करते-करते भी कभी निश्चय की प्राप्ति नहीं हो सकती। निर्णय करने से भी मतलब सिद्ध होने वाला नहीं। निर्णय भी आगमानुकूल ही होना चाहिए। व्यवहार भी ऐसा हो जो निर्णय के अनुरूप आगे पग बढ़ा रहा हो और निश्चय की भूख खोल रहा हो,

अन्यथा तीनों व्यर्थ हैं। अर्थात् वह निर्णय सही नहीं है जो व्यवहार की ओर कदम नहीं बढ़ाता और वह व्यवहार भी सही नहीं माना जाता जो निश्चय तक नहीं पहुँच पाता। मात्र व्यवहाराभास है। "हेतु नियत को होई"- व्यवहार वास्तविक वही है जो निश्चय को देकर ही रहता है। कारण वही माना जाता है, जो कार्य का मुख दिखा ही देता है। ऐसा संभव नहीं कि प्रभात के 5-6 तो बज जाएं और पो न फटे। प्रातः सूर्योदय से पूर्व ही यह श्रद्धान हो जाता है कि ललाई आ चुकी है, अब प्राची दिशा में नियम से सूर्योदय होगा। यही बात यहाँ कही गई है कि श्रद्धान रखो। किसके ऊपर श्रद्धान रक्खें? तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के ऊपर श्रद्धान रखो, यही व्यवहारसम्यग्दर्शन है।

धवला का वाचन हो रहा था। उस समय यह बात आई थी कि दर्शनमोहनीय क्या काम करता है? आचार्यों ने लिखा- जो सात तत्त्वों को विषय बनाने की क्षमता अथवा उनके ऊपर श्रद्धान करने की क्षमता को फेल कर देता है, वह दर्शनमोहनीय है। मतलब यह हुआ कि मात्र शुद्धात्मा की बात ही नहीं कही गई धवला में। इसीलिए आचार्य कहते हैं कि दर्शनमोहनीय की वजह से जीव की दृष्टि "रांग" (गलत) हो रही है। दृष्टि अर्थात् श्रद्धान ही गलत है।

शुद्ध-आत्मतत्त्व विद्यमान है और उसको प्राप्त करने की क्षमता भी। लेकिन क्षमता होते हुए भी आज तक हम प्राप्त नहीं कर सके। इसमें क्या गड़बड़ी हो रही है? आचार्य कहते हैं कि हमारा आत्मतत्त्व-द्रव्य उलट गया है, पलट गया है। हमारे द्रव्य का परिणमन कैसा हो रहा है? परिणमन जो हो रहा है वह पदार्थों, गुणों और द्रव्यों का हो रहा है। पर्याय का कभी भी परिणमन नहीं हुआ करता। पर्याय अपने-आप में "परिणाम" ही है। उसकी कोई परिणति नहीं होती। कर्ता जो होता है वही परिणमन करता है- परिणमनशील हुआ करता है। फिर द्रव्य शुद्ध कैसे माना जा सकता है? जैसा कि कहा जाता है। जिस द्रव्य से अशुद्ध पर्यायें पैदा हो रही हैं वह अशुद्ध ही है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि द्रव्य का परिणमन तो शुद्ध हो और उसके 'परिणाम' पर्यायें अशुद्ध पैदा हों।

मैं गुण को लेकर के कुछ बात और कहना चाहूँगा कि शुद्धोपयोग गुण अपने आप में शुद्ध नहीं है, किन्तु शुद्ध होने का कारण होने से शुद्धोपयोग कहा जाता है।

शुद्धोपयोग आत्मा का स्वभाव तीन काल में नहीं हो सकता। इसलिए शुद्धोपयोग पैदा करने वाला जो आत्मा है, वह शुद्धात्मा नहीं है। अतः स्पष्ट

है कि ज्ञान गुण को शुद्ध बनाना होगा। आत्मद्रव्य को शुद्ध बनाना होगा। पर्याय को कोई कभी भी शुद्ध नहीं बना सकता। पर्याय तो पकड़ में भी नहीं आ सकती। ध्यान रखिये! हमें पर्याय को नहीं मांजना। पर्याय को मांजने में लग जाएंगे तो गड़बड़ हो जाएगा। महाराज! फिर द्रव्य को शुद्ध कैसे कहा गया है? आचार्य कहते हैं कि द्रव्य को शुद्ध इसलिए कहा गया है कि उसमें शुद्ध होने की क्षमता है। शुद्ध भी दो प्रकार से अभिव्यक्त होने योग्य है- एक तो अनन्तकाल से एक द्रव्य में कोई अन्य द्रव्य के प्रदेश आकर चिपके नहीं, मिले नहीं। इसका उसमें और उसका इसमें कुछ भी संकर नहीं हुआ, व्यतिकर नहीं हुआ। इस अपेक्षा से द्रव्य को शुद्ध कहा गया है। यह भिन्न-द्रव्यों की अपेक्षा से कहा गया है। दूसरी, परिणमन की अपेक्षा से शुद्धि कही जाती है यानि "स्वभावात् अन्यथा भवनं विभावः" यह अशुद्धि है। ज्ञान गुण का स्वभाव से अतिरिक्त जो परिणमन है वह विभाव है।। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययवज्ञान, शुभोपयोग, अशुभोपयोग, शुद्धोपयोग आदि जो कोई परिणमन है, केवलज्ञान के पूर्व की जितनी भी अवस्थाएं हैं वे सभी अशुद्ध गुण की परिणतियां हैं। इस प्रकार की श्रद्धा सम्यग्दृष्टि जीव गुरूदेव के मुख से सुनकर अथवा जिनवाणी मां के इशारे से बना लेता है, भले ही वह तत्त्व देखने में नहीं आ रहा हो। इसीलिए कहा-

कोविदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पज्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठंतं।।

आत्मतत्त्व का ऐसा ही स्वरूप है। इसलिए इनके ऊपर श्रद्धान नहीं रहने के कारण संसारी प्राणी दर-दर भटकता चला जा रहा है। अपनी शक्ति को एक बार भी उधाड़ने का प्रयास नहीं किया, अनन्तकाल व्यतीत हो गया इस जीव का। अनन्तों बार मां के उदर में जा-जाकर कम से कम नौ-नौ महीनों तक शीर्षासन लगाया। ध्यान रखिये, कोई भी हो, उसे नौ महीने तक मां के उदर में शीर्षासन लगाना ही पड़ता है-

जननी उदर वस्यो नव मास अंग सकुचते पाई त्रास।
निकसत जे दुख पाये घोर, तिनको कहत न आवे ओर।।

कहाँ तक कही जाए उस वेदना की कथा। वेदना होना वहाँ स्वाभाविक है, लेकिन इतनी वेदना या पिटाई होने के बावजूद जीव कभी मिट नहीं सका। पिटना बात अलग है और मिटना अलग। द्रव्य पिट सकता है, मिट नहीं सकता। उसके ऊपर अमिट छाप है। वस्तु/द्रव्य का यह स्वभाव है कि

वह भी मिट नहीं सकता। वह तो "था" "है" और "रहेगा"। ऐसा होने मात्र से उसे सुख नहीं, सुख का अनुभव नहीं हो सका आज तक। जन्म, जरा, मृत्यु जैसे महान् रोग नष्ट नहीं हो सके। इसे जब तक अटूट श्रद्धान नहीं होगा कि "मैं भी शुद्ध बन सकता हूँ" मेरे गुण द्रव्य और मेरी जो कुछ भी स्थितियां हैं, उन सबको शुद्ध बना सकता हूँ" तब तक ये राग-द्वेष नष्ट होने वाले नहीं। ऐसा श्रद्धान कौन बना सकता है? जिसका दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होगा, वही कर सकेगा। इसके बिना श्रद्धान होना तीन काल में भी संभव नहीं। भले ही वह श्रद्धान को शब्दों में कह सकता है लेकिन श्रद्धान जैसी शुभ घड़ी उसे प्राप्त नहीं है।

धन्य हैं वे, जो भगवान् बनने चले हैं। वह व्यक्ति महान् भाग्यशाली है, जिसको इसके ऊपर यथार्थ श्रद्धान हो गया कि मैं भी इस प्रकार का तत्त्व हूँ, ऐसा बन सकता हूँ, जो यद्वा-तद्वा जिस किसी भी व्यक्ति की कही बातों का श्रद्धान नहीं करता। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र पर श्रद्धान करता है, उसे ही व्यवहार सम्यग्दृष्टि कहते हैं। वह कर्म के क्षय को उद्देश्य बनाकर तत्त्वश्रद्धान, सम्यग्ज्ञान के साथ-साथ आगे कदम बढ़ायेगा और क्रमशः महावीर तक जाएगा।

विषय पुनः दुहरा दूँ। वीतराग-सम्यग्दर्शन, अभेदरत्नत्रय की प्राप्ति के साथ ही हुआ करता है। उपयोग की धारा जिस समय शुद्ध में ढल जाती है उस उपयोग को शुद्धोपयोग कहते हैं। शुद्धोपयोग वह वस्तु है जो सम्यग्दर्शन के द्वारा आगे बढ़कर, अपनी आत्मा में लीन हो जाता है। इसी को निश्चय सम्यग्दर्शन भी कहते हैं। आचार्यों ने, अमृतचन्द्राचार्य ने और जयसेनाचार्य ने भी खोला है इसे। उन्होंने कहा- **"अत्र तु वीतरागसम्यग्दृष्टीनां कथनम्"** यहाँ पर वीतराग सम्यग्दृष्टियों का ही कथन है। नीचे वाले की विवक्षा नहीं है। फिर महाराज क्या नीचे वाला फेल माना जाएगा? नहीं, अपने आपमें अर्थात् अपनी कक्षा में तो पास है। ऊपरी कक्षा में उसकी बात नहीं कही जाएगी, क्योंकि यहाँ पर अभेदरत्नत्रय की बात कही जा रही है। जबकि धवला, जयधवला, महाबन्ध इत्यादि में सम्यग्दर्शन को चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक घटाते चले जाते हैं। परन्तु आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि हम यहाँ पर जो बात कह रहे हैं, वह श्रद्धान वाली बात नहीं है किन्तु ध्यान वाली बात है- ध्यान से सुनिये आप।

ध्यान की बात करना अलग है और ध्यान से बात करना अलग। इन

ान के केन्द्र खोलने मात्र से कोई ध्यान में केन्द्रित

नहीं होता। आज हम मात्र उपदेश देने में लगे है या ध्यान के केन्द्र खोलते जा रहे हैं, इससे अध्यात्म का प्रचार-प्रसार नहीं होगा किन्तु प्रचाल होगा। चार और चाल में क्या अन्तर है? बहुत अन्तर है। चार का अर्थ स्वयं में चलने में आता है "चरति एव चारः" और प्रचाल में वह बाहर की ओर भाग रहा है। इतना अन्तर है दोनों में।

वीतराग-सम्यग्दर्शन अभेदपरक होता है और सराग-सम्यग्दर्शन भेदपरक। मोक्षमार्ग में दोनों आवश्यक हैं। एक उदाहरण दे देता हूँ- बहुत दिन पहले, गृहास्थावस्था की बात है। कार में बैठकर जा रहे थे। गाड़ी तेज रफ्तार से चल रही थी। उस समय ड्राइवर को सामने से एक गाड़ी आती हुई देखने में आ गई- कानों में "हार्न" की आवाज भी आ गई। ड्राईवर ने ऊपर वाली लाईट जला दी, जिसका प्रकाश सामने आती गाड़ी पर पड़ा। गाड़ी देख लेने पर लाईट पुनः नीची कर दी। निश्चय और व्यवहार, यहाँ दोनों घटित हो जाते हैं। निश्चय अपने लिए है और व्यवहार पर के लिए, ऐसा नहीं, किन्तु व्यवहार भी पर के साथ-साथ स्व के लिए होता है। जैसे कि गाड़ी की लाईट चूंकि दूसरी गाड़ी देखने के काम आती है। इसका अर्थ- वह लाईट मात्र दूसरों के लिए ही है, ऐसा नहीं है, किन्तु हम स्वयं "एक्सीडेन्ट" से बचें इसलिए भी उनका प्रयोग होता है। नीचे की लाईट यदि गुम कर दी जाए तो आगे चलना ही मुश्किल हो जाएगा। इसके साथ-साथ एक और स्थिति है कि बीच में एक गाड़ी जा रही थी। उसने ज्यों ही अपना ब्रेक लगाया त्यों ही गाड़ी के पीछे जो "नम्बरप्लेट" थी, उस पर लगी लाईट जल गयी। वह कैसी होती है भैया! लाल होती है। लाल नहीं होती। लाईट तो जैसी होती है वैसी ही है, लेकिन उसका कांच लाल होता है। वह सही-सही व्यवहार चलाने के लिए लगाया जाता है, जिसके माध्यम से मार्ग बाधक-तत्त्वों से रहित होता है और गाड़ी की यात्रा आगे निर्बाध होती है।

व्यवहार और निश्चय, दोनों को समझने की आवश्यकता है। व्यवहार कोई खेल नहीं है। व्यवहार, निश्चय के लिए है। जब तक निश्चय नहीं है तब तक व्यवहार का पालन पोषण करना आवश्यक है, क्योंकि व्यवहार के द्वारा ही हम निश्चय की ओर ढलेंगे-बढ़ेंगे। निश्चय की भूमिका बहुत लम्बी-चौड़ी नहीं है, किन्तु केवल ज्ञान होने के उपरान्त निश्चय की या शुद्धोपयोग की वही स्थिति होती है जो शुद्धोपयोग होने के पूर्व शुभोपयोग और अशुभोपयोग की होती है। कार्य हो जाने पर कारण की कोई कीमत नहीं रह जाती, लेकिन कार्य से पूर्व कारण की उतनी ही कीमत है जितनी कार्य

की। सरागदशा में, व्यवहार दशा में हमें किस रूप में चलना है! इसको जानने की बड़ी आवश्यकता है। व्यवहार को व्यवहार के रूप में बनाए रखिए। व्यवहार को व्यवहाराभास मत बनाईये। व्यवहार जब व्यवहाराभास बन जाता है तो न वह निश्चय को पैदा करता है और न लौकिक व्यवहार को। उसका कोई भी फल नहीं होता। आभास मात्र रह जाता है। आभास में सुख नहीं, शान्ति नहीं, मात्र वह आभास है। इसीलिए- **"प्रमत्त बनकर कर्म न करते अकम्प निश्चय शैल रहे"** आत्मा में अकम्प रहने का मतलब है आत्मा का अप्रमत्त होना। "प्रमत्त बनकर कर्म न करते" यह अवस्था बाबलेपन की अवस्था है तो भीतरी दृष्टि को फेल कर देती है। उसके द्वारा केवलज्ञान तीन काल में नहीं हो सकता। प्रमत्त बनने का अर्थ मिथ्यादृष्टि होना नहीं है, बल्कि सराग अवस्था में जाना, यह काम इस कक्षा का नहीं। यहाँ अप्रमत्त अवस्था का अभेद अवस्था का प्रसंग है। "अमृतचन्द्राचार्य" ने प्रवचनसार में कहा है कि मात्र सम्यग्दर्शन के द्वारा मुक्ति नहीं और उसके बिना भी मुक्ति नहीं। ज्ञान के द्वारा भी मुक्ति नहीं और उसके बिना भी मुक्ति नहीं। चारित्र के द्वारा भी मुक्ति नहीं और उसके बिना भी मुक्ति नहीं। अन्त में उन्होंने कहा- 'रत्नत्रय के द्वारा भी मुक्ति नहीं होगी, नहीं होगी, नहीं होगी।' तब आप कहेंगे- हमें रत्नत्रय का अभाव कर लेना चाहिए। आपके पास जब रत्नत्रय है ही नहीं तो अभाव क्या करेंगे? वस्तुतः, मोक्षमार्ग ध्यान के अलावा और कुछ भी नहीं है। वह भी उपयोग की एकाग्रदशा का नाम है।

हलुवे में न हम शक्कर पाते हैं, ना घी और ना आटा। किन्तु शक्कर, घी और आटा के बिना हलुवा कुछ नहीं है। हां! तीनों को तीन कोनों में रख दीजिए तब हलुआ नहीं बनेगा। मिला दें तो भी नहीं बनेगा। फिर कब बनेगा? जब तक अग्नि का योग नहीं दिया जाएगा- तीनों मिलकर एकमेक नहीं होंगे तब तक हलुआ नहीं बन सकेगा। इसी प्रकार उपयोग में, जो बाहरी-वृत्ति को देखकर उथल-पुथल मच रही है। उसे भीतर कर लेने को ही "अभेद" कहते हैं। समयसार में एक गाथा आती है, जिसमें एक नामावली दी गई है-

बुद्धी ववसाओवि य, अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं।
एकट्ठमेव सव्वं, चित्तं भावो य परिणामो॥

विज्ञान कहो, परिणाम कहो, अध्यवसान कहो, ये नामावली एक ही बात की गठरी में बंध जाती है। मतलब इन सबसे ज्ञान का चिन्तन-उपयोग को भिन्न रखना है। सराग सम्यग्दर्शन के साथ चिन्तन का जन्म होता है, किन्तु वीतराग सम्यग्दर्शन में चिन्तन मौन-शून्य हो जाता है। सराग सम्यग्दर्शन में

ज्ञान को सम्यक् माना जाता है जबकि वीतराग सम्यग्दर्शन में ज्ञान को स्थिर माना जाता है।

ज्ञान कम्पायज्ञान है। उसकी व्यग्रता को मिटाने के लिए ध्यान है। ध्यान ही मुक्ति है। हाँ! पहले श्रद्धान होता है, ध्यान नहीं। वह श्रद्धान भी, जब तक वस्तु परोक्षभूत है तब तक ही अनिवार्य है, बाद में श्रद्धान नहीं। वीतराग सम्यग्दर्शन को धवला, जयधवला आदि में ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में घटाते हैं, जिसको "छद्मस्थ वीतराग" संज्ञा देते हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव भी कहते हैं कि वीतराग बनने के उपरान्त करना-धरना सब कुछ छूट जाता है। वस्तुतः, यह एक सम्यक्प्रणाली है। इसके ऊपर प्रगाढ़ श्रद्धान करना ही जिनवाणी की सेवा है। श्रद्धान करना मात्र सेवा नहीं है, किन्तु उसके अनुसार अपने जीवन में उन सिद्धान्तों को ढालते चले जाना ही सच्ची सेवा है। तब कहीं जिनवाणी का आशय-अभिप्राय क्या है? इसे ज्ञात कर सकेंगे। लेकिन हम तो निर्णय ले लेते हैं कि सर्वप्रथम तो सारा का सारा सुना जाए, बाद में हम करना प्रारम्भ करेंगे, जो होना असंभव है। आचार्य एक-एक कदम आगे बढ़ने पर एक-एक सूत्र देते चले जाते हैं। यदि वह कदम उठाता है तो उसे आगे का सूत्र बताया जाता है। यदि नहीं उठाता तो, ज्यों का त्यों रहने देते हैं। उसे पीछे भी नहीं भगाते। कहते हैं- "यहीं पर रह जाओ, कोई बात नहीं। पीछे वाले आएँ तो उनके साथ आ जाना" ऐसा कहकर उसे छोड़ देते हैं साथ-साथ यह भी कह देते हैं कि तुम आगे बढ़ोगे तो तुम्हें भी नियम से सूत्र मिलेंगे।

भगवान् का, आचार्यों का हमारे ऊपर बड़ा उपकार है, जिन्होंने ऐसे-ऐसे गूढ़ तत्त्वों को, सामान्य से सामान्य व्यक्ति समझ सके, ऐसी प्ररूपणा की। उन्होंने इसे मुड़कर भी नहीं देखा। मुड़कर देखना उनका स्वभाव भी नहीं है। कहाँ तक मुड़कर देख सकेंगे? अनन्त केवली हमारे सामने-सामने से निकल गए हैं, और हम इसी स्टेशन पर खड़े हैं। जैसे- गाड़ियां आती हैं-जाती हैं, आती हैं, चली जाती हैं। बहुत सारे लोग चले जाते हैं। जाते-जाते मुड़कर के देखते तक नहीं, हमें बुलाते नहीं। कदाचित् देख भी लें, आवाज भी दे दें, तब भी आते नहीं हैं। ऐसी कैसी बात है? कैसी करुणा है इनकी? भैय्या। उनका स्वभाव ही ऐसा है। क्या करें! कहाँ गये वे कुन्दकुन्द भगवान्, उमास्वामी, समन्तभद्राचार्य अकलंकस्वामी और सारे के सारे अनन्त तीर्थंकर कहाँ गये? वर्तमान में हम केवल उनका परोक्षरूप में स्मरण करते हैं। ऐसा

समवसरण होता है, ऐसा गर्भकल्याणक, ऐसा जन्मकल्याणक, तपकल्याणक पांचों कल्याणक होते हैं। उनके तो कल्याणक हो गए, हो जाते हैं। यहाँ पर तो पंचों का कल्याण नहीं होता, दूसरी जनता की तो बात ही अलग है। क्यों नहीं होता? आचार्य कहते हैं- **"धम्मं भोगणिमित्तं"**। धर्म का प्रयोग हम भोग-ऐशो-आराम के लिए, ख्याति-पूजा-लाभ के लिए, नाम बढ़ाई के लिए करते हैं। परन्तु ऐसा नहीं होना चाहिए। हम जो करते हैं वह हमारे लिए ही है, हमारी उन्नति के लिए है, यह विश्वास पहले दृढ़ बनाना चाहिए। फिर भी यदि होता है तो क्या करें? अनन्तकाल से इस प्रकार का कार्य ही नहीं किया। इसलिए जो भावुकता में आकर कर लेते हैं, उनको भी समझना-समझाना होगा कि- देखो भैय्या! इसका परिणाम अच्छा निकलना चाहिए। यह काम तो बहुत अच्छा किया आपने। जैसे- आप सुन रहे हैं। तब मैं यह थोड़े ही कहूँगा कि आपका सुनना ठीक नहीं, बल्कि मैं तो यही कहूँगा कि पंचों का कल्याण इस प्रकार से कभी नहीं हो सकता। जब तक ये शब्द नहीं कहे जायेंगे तब तक कल्याण होने वाला नहीं। आचार्य कहते हैं- ख्याति, पूजा, लाभ के लिए नहीं किन्तु कर्मक्षय के हेतु धर्म होना चाहिए।

आदहिदं कादव्वं, जं सक्कई तं परहिदं च कादव्वं।
आदहिद-परहिदादो, आदहिदं सुट्ठु कादव्वं॥

आचार्य कुन्दकुन्ददेव की वाणी कितनी मीठी है और कितनी पहुँची हुई है तथा कितनी तीखी भी है। क्या कहती है? आत्मा का हित पहले स्वयं करें। आप तो सोचते हैं, अपना कल देखा जाएगा, आज तो दूसरों का करा दूँ। दूसरों का तू नहीं कर सकेगा। पहले तू खुद भोजन करने बैठ जा, तुझे देखकर दूसरों को भी रुचि उत्पन्न हो सकती है। भोजन की मांग हो सकती है। लेकिन स्वयं के बिना दूसरों को समझ में नहीं आयेगा। जो कुछ करना है, कर लो। उपकार भी करना है तो लोगों से कह दो- तुम भी बैठ जाओ, भाई! तुम भी बैठ जाओ। लेकिन जिस व्यक्ति को भोजन करना ही नहीं, तो उसकी ओर पीठ कर दें, और एक बार जल्दी-जल्दी भोजन कर लें। संसार में कोई स्थायी रहने वाला नहीं। "संसार" शब्द ही कह रहा है कि जल्दी-जल्दी काम कर लो, नहीं तो सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है। वह कभी भी रुकने वाला नहीं। उसको मैं क्या कहूँ, स्वयं आचार्य कहते हैं कि- भगवान् भी उसे रोकना चाहें तो नहीं रोक सकते, और भगवान किसी को रोकना नहीं चाहते।

काल रुकता नहीं और किसी को रोकता भी नहीं। इतना तो अवश्य है कि- चल-चल, मेरे साथ चल। तेरे भीतर ही भीतर परिवर्तन होता चला जाएगा, बस! तू अपने स्वभाव की ओर देख ले। मैंने तो अपने स्वभाव को न छोड़ा है, न कभी छोड़ूँगा। क्यों नहीं छोड़ता? आचार्य कहते हैं कालद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य ये चारों शुद्धद्रव्य-शुद्धतत्त्व हैं। इनके लिए शुद्धि की कोई आवश्यकता नहीं होती। किन्तु जीव और पुद्गल, ये दो तत्त्व ऐसे हैं जो शुद्ध भी हो जाते हैं और अशुद्ध भी। पुद्गल द्रव्य ऐसा ही है कि शुद्ध होने के उपरान्त कालान्तर में अशुद्ध हो सकता है, परन्तु जीव तत्त्व ऐसा नहीं है। वह एक बार शुद्ध हुआ कि पुनः कभी भी अशुद्ध नहीं होता। उसको शुद्ध करने के लिए क्या करें, वह तो आज तक शुद्ध नहीं हो पा रहा है? उसे शुद्ध करने के लिए सारे के सारे साबुन बेकार हैं। फिर उसके लिए कौन-सा रसायन है जिसके द्वारा उसकी अशुद्धि मिट सकती है? आचार्य कहते हैं कि एकमात्र यही रसायन है उसके लिए, वह भी यह-

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥

चार-चरणों में, चार बातें कहीं गयी हैं- बन्ध की व्यवस्था- राग करोगे तो बन्ध होगा, मुक्ति की व्यवस्था- वीतरागता को अपनाओगे तो मुक्ति मिलेगी, उपदेश- यह जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है। इसलिए "जो कुछ होना है सो होगा" ऐसा नहीं कह रहे कुन्दकुन्द भगवान्। क्या कहते हैं- "तम्हा कम्मेसु मा रज्ज" यह राग की बात छोड़ दे।

"यह राग-आग दहे सदा तातै समामृत सेइए"

अरे! ममता, मोह, मत्सर की इस देह को धारण करते-करते, अनन्तकाल व्यतीत हो गया। एक बार भी आंख मीचकर अपने आपको देख ले, कि "मैं कौन हूँ", "यहाँ पर क्यों आया हूँ", "कब तक चलना है", इसके बीच में कोई रास्ता है कि नहीं?

आज अफसोस की बात तो यह है कि, इस संसारी प्राणी को ज्ञान मिलने के उपरान्त भी, **"धम्मं भोगणिमित्तं"** है। सोचता है, बहुत सोचता है, **"सद्दहदि"**- श्रद्धान करता है, **"पत्तेदिय"** प्रतीति करता है, **"रोचेदि"** रुचि करता है, **"फासेदि"** स्पर्श भी करता है। तत्त्व का ऐसा स्पर्श कराता है जैसे- दो मेगनेट मिल गए हो। फिर भी भीतर का भोग परिणाम समाप्त नहीं हो पा रहा है। कल या परसों के दिन हम सब देखेंगे कि भोगों को किस

प्रकार से उड़ा देते हैं- लात मार देते हैं, भगवान्। इस सबकी आयोजना आप सुनेंगे, देखेंगे भी। गद्गद् हो जाएगा हृदय। आज हमारे पास एक कोड़ी बराबर भी भोग नहीं है, फिर भी उसको छोड़ने की हिम्मत नहीं होती। लेकिन तीन लोक की सम्पदा, उसको भी लात मारते हैं। यह कमाल की बात है, भीतरी बात है। भीतर से ही यह काम होता है, उसके बिना सम्भव नहीं है।

सही दृष्टि यही है, जिसको यह श्रद्धान हो गया है कि तीन लोक की सम्पदा मेरे काम आने वाली नहीं। यह सम्पदा वस्तुतः सम्पदा ही नहीं। सम्पदा किसको कहते है? आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने "स्वंयभूस्तोत्र" में अरनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है-

मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः।
दृष्टिसम्पदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर! पराजितः॥

हे भगवन्! सम्पदा वही होती है, जो वीतराग-विज्ञान है, रत्नत्रय है। इसके माध्यम से उसी को प्राप्त कर सकते हैं जो अनन्तकाल तक अक्षय-अनन्त मानी जाती है। वही मेरे लिए प्राप्तव्य है-प्रयोजनीय है। इस प्रयोजन को बना करके जो व्यक्ति सात तत्त्वों के ऊपर श्रद्धान करता है, नौ पदार्थों, छह द्रव्यों के ऊपर श्रद्धान करता है, उसका श्रद्धान ही वीतराग-विज्ञान के लिए कारण बन जाएगा और अन्यथा प्रयोजन के साथ वही ख्याति-पूजा-लाभ या सांसारिक वैभव के लिए भी कारण बन जाएगा। जिनवाणी तो आपने पढ़ी, लेकिन भोगों के लिए पढ़ी तो प्रयोजन सही-सही नहीं माना जाएगा।

वर्णी जी की "मेरी जीवन गाथा" में एक घटना है। उसमें उन्होंने लिखा है- देखो बन्धुओं! ध्यान रखिये, **"कभी भी जिनवाणी माता के माध्यम से अपना व्यवसाय नहीं चलाना"।** क्योंकि, जिसके द्वारा रत्नत्रय का लाभ होता है उसको तुम क्षणिक व्यवसाय का हेतु बना रहे हो। चार पुरुषार्थ हैं- अर्थ, काम, धर्म और मोक्षपुरुषार्थ। तो अर्थ पुरुषार्थ करो और वित्त का अर्जन करो। जिनवाणी के माध्यम से तो रत्नत्रय की सेवा करो, रत्नत्रय को प्राप्त करने का व्यवसाय करो इसी का नाम सम्यग्ज्ञान है। बड़ी अच्छी बात कह दी। छोटी जैसी लगती है, लेकिन है बहुत बड़ी। ठीक है! जिनवाणी का क्या गौरव होना चाहिये? उसे कैसे रखें, कैसे उठायें? इसका ख्याल रखना चाहिए। जैसे-आप लोग जब धुले हुए- साफ-सुथरे अच्छे-अच्छे कपड़े पहिनकर आ जाते हैं तो कैसे बैठते हैं? मालूम है आपको! आपके बैठने में

आदान-निक्षेपण समिति आ जाती है। भीतर जेब में रखी रूमाल, एक प्रकार से पिच्छी का काम करने लग जाती है। उस समय हम सोचते हैं कि भैय्या! यह कौन-से मुनि महाराज आ गए। कैसी आदान-निक्षेपण समिति चल रही है। यदि रुमाल नहीं है आपके पास, तो फूंक ही मारते हैं और ऐसे बैठ जाते हैं, जैसे बिल्कुल ठीक-ठीक आसन लगाकर प्राणायाम होने वाला है। ऐसे कैसे बैठ गये? कौन-सा आसन है वह! आसन-वासन कुछ नहीं है वह, किन्तु वसन गन्दी न हो, इसलिए ऐसा बैठते हैं आप लोग। इस प्रकार की प्रवृत्ति करते समय जरा सोचो तो बन्धुओ! इससे किसकी रक्षा हो रही है? वस्त्र की या जीवों की। जब वस्त्रों की रक्षा आप इतने अच्छे ढंग से करते हैं, तब जिनवाणी की रक्षा किस प्रकार करना चाहिए? आचार्यों ने कहा है- उसको नीचे मत रक्खो। जहाँ कहीं उसे ऊंचे आसन पर रखो। उसके प्रति आदर से खड़े होओ।

जब कभी मुझे समय मिलेगा, तब सम्यग्ज्ञान के बारे में कहूँगा। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं, उसी प्रकार से सम्यग्ज्ञान के आठ अंग हैं। इन आठ अंगों को देखकर ऐसा लगता है कि हमारा ज्ञान अभी बहुत कुछ संकुचित दायरे में है। हम वस्तुतः इन अंगों का पालन नहीं कर पा रहे हैं, फिर भी सम्यग्ज्ञानी होने का दम्भ रखते हैं। ऐसा सम्भव नहीं है कि "अंग के बिना अंगी की रक्षा हो जाए"। यदि सम्यग्ज्ञान की रक्षा चाहते हो तो उस जिनवाणी मां की रक्षा करो। ध्यान रखिए- जब तक इस धरतीतल पर सच्चे देव-गुरु-शास्त्र रहेंगे, तब तक ही हमारी भीतरी आंखें खुल सकेंगी। भीतरी आंख जितनी पवित्रता के साथ खुलेगी, उतना ही पवित्र-पथ देखने में आयेगा। ज्यों ही इसमें दूषण आने लग जाएंगे तो पथ की पवित्रता नष्ट/समाप्त हो जाएगी। दृष्टि-दूषण के कारण कौन-कौन हैं? अज्ञान, राग, लाभ और भय। इन चारों के द्वारा ही दृष्टि में दूषण आता-है, आ सकता है। पवित्र वस्तुओं में दूषण लगने के ये चार-मार्ग हैं। यदि हमारा राग जागृत हो जाए या लोभ जागृत हो जाए तो लोभ के कारण हम तत्त्व को इधर-उधर करने लग जाएंगे। जो हमारे लिए अभिशाप सिद्ध होगा। "वह घड़ी वरदान नहीं हो सकती, अभिशाप ही सिद्ध होगी क्योंकि जिनवाणी में परिवर्तन करना महान् दोष का काम है, साथ ही महान् मिथ्यात्व का भी।" दर्शनमोहनीय का जो बन्ध होता है। उसके लिए "तत्त्वार्थसूत्र" में उमास्वामी महाराज ने कहा है- **"केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य"**

जिनवाणी का एक अक्षर भी यहाँ का वहाँ न हो, निह्नव न हो। इस प्रसंग पर मैं पुनः कहूँगा कि **सरागसम्यग्दर्शन के साथ तत्त्व का श्रद्धान किया जाता है और वीतराग सम्यग्दर्शन के साथ ध्येय वस्तु को प्राप्त करने के लिए उपयोग को एकाग्र किया जाता है। ये दोनों सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाते हैं तो केवलज्ञान भी बहुत जल्दी प्राप्त हो जाता है। यही एक मात्र क्रम है,** जिसे वृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका में स्पष्ट किया गया है-

"एषां भरतादीनां यत्सासम्यग्दर्शनं तत्तु व्यवहारसम्यग्दर्शनं"

गृहस्थावस्था में जो भरतादि थे उनके सम्यग्दर्शन की बात है, तो उन्हें क्षायिक सम्यग्दर्शन था, उसे भी उन्होंने "व्यवहार सम्यग्दर्शन" यह संज्ञा दी है। वीतराग सम्यग्दर्शन के लिए वे कहते हैं कि जिस समय मुनि महाराज अभेद रत्नत्रय में लीन हो जाते हैं, तब ही वीतराग सम्यग्दृष्टि है। वे मुनि महाराज ही वीतराग ज्ञानी हैं और वे ही वीतराग चारित्री भी हैं। इसीलिए उनको आदर्श बनाकर उनके पगचिन्हों पर चलें तो नियम से एक दिन हमें भी वह घड़ी प्राप्त होगी, जिसकी प्रतीक्षा में हम अनादिकाल से हैं।

मैं भगवान् से बार-बार प्रार्थना करता हूँ कि आप लोगों की मति भी इसी ओर हो और मेरी मति इससे आगे बढ़ती हुई हो। जल्दी-जल्दी आगे पहुँच गए हैं जो, उनको आदर्श बनाकर वहाँ पर जाने के लिए याद रखें। जब तक हमारे सामने आदर्श नहीं रहेगा ,तब तक हमारे कदम ठीक-ठीक नहीं उठ सकेंगे। इस पंचमकाल में, वह भी हुण्डावसर्पिणी काल में यदि कोई शरण है तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र ही हैं। देव का तो आज अभाव है, लेकिन अभाव होते हुए भी स्थापनानिक्षेप के माध्यम से आज भी हम उन वीतराग भगवान् को सामने ला रहे हैं जिन भगवान् के बिम्ब-दर्शनमात्र से, भीतर बैठा हुआ अनन्तकालीन मिथ्यात्व छिन्न-भिन्न हो जाता है। ऐसी प्रतिमा की स्थापना के लिए ही आप लोगों ने पांच-छह दिन की यह आयोजना की है। अपने वित्त का सदुपयोग और अपने समय का, जो कुछ भी था, न्यौछावर किया। आप लोग भी इस आयोजना को देखने के लिए आए।

भावना की थी। आज यही आपके लिए धर्म-प्रभावना का कारण है और ध्यान के लिए भी। लेकिन यह ध्यान रखिये- "धम्मं भोगणिमित्तं" रूप भावना नहीं होना चाहिए। आप लोगों ने बहुत कुछ किया जो फालतू नहीं, बहुत आवश्यक है। लेकिन इतना और कर लेना कि भीतर कभी भी भोगों की वांछा न हो। भीतर कभी भी ख्याति-पूजा-लाभ की वासना न हो। क्योंकि

यह भावना जागृत हुई, कि सारा का सारा काम समाप्त। अन्दर रहने वाली बारूद में एक बार भी अगर, अगरबत्ती लग गई तो विस्फोट होने से कोई नहीं बचा सकता। वह विस्फोट ऐसा भी हो सकता है, जिसका जीवन में कभी अनुमान न किया हो। इसलिए अन्दर बारूद रहते हुए भी उसे अन्दर ही सुरक्षित रखो और अगरबत्ती लगने से पहले ही उसकी बाती (बत्ती) को ऐसा तोड़ दो ताकि तीन काल में भी विस्फोट न हो। फिर चाहे उसे जेब में भी रख लें तो कोई डर नहीं।

अतः सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को आदर्श बनाकर चलना चाहिए, क्योंकि कुन्दकुन्द भगवान् भी जब उनको आदर्श मानकर चले हैं तो हम किस खेत की मूली है। क्या ज्ञान है हमारे पास? क्या चारित्र है? हमारे पास निश्चय से तो कुछ भी नहीं है। हम तो उनकी पग-रज होने के लिए जीवित हैं। नहीं तो इस संसार में हमारा कोई अस्तित्व नहीं। यदि वे नहीं होते तो हम अपनी आत्मा की आराधना कैसे करते? आत्मा की बात भी स्वप्न में नहीं आ सकती थी। हमें इस जिनवाणी की, ऐसे गुरुओं की और सच्चे देव की शरण मिली है, इसलिए हमारे जैसा बड़भागी और कौन हो सकता है? किन्तु बड़भागी कहकर रुकना नहीं चाहिए। रुकना वस्तु का स्वभाव नहीं और न पीछे मुड़कर देखना। इसलिए इस बड़भागीपन की याद रखते हुए सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की शरण में जाकर रत्नत्रय का लाभ प्राप्त कर भगवान् कुन्दकुन्द देव ने जिनको आदर्श बनाकर भी ज्ञान और चारित्र अंगीकार किया, वह हम कर सकें और सभी संसारी प्राणी उसे अंगीकार करने की चेष्टा करें।

३

संसारी प्राणी जन्म को अच्छा मानता है और मरण को बुरा। इसलिए हम पहले मरण को समझ लें। जन्म के बारे में मध्याह्न में समझना अच्छा होगा। अभी का जो समय है उसमें पहले मरण को समझ लेते हैं, फिर उसके उपरान्त स्वाध्याय और दान के विषय में भी कुछ समझने का प्रयास करेंगे।

पहले तो, मरण किसका होता है? मरण क्या वस्तु है? मरण क्या अनिवार्य है और मरण का जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है? इसको समझ लें। संसार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो मरण से न डरता हो, जबकि मरण एक अनिवार्य घटना है। फिर डरना क्यों? जहाँ जीवन भी एक

अनिवार्य घटना और मरण भी, तो एक पहलू से प्रेम और एक पहलू को देखकर के क्षोभ क्यों? इसमें क्या रहस्य है? अज्ञान! अज्ञान के कारण ही संसारी प्राणी मृत्यु को नहीं चाहता और मृत्यु से बच भी नहीं पाता। अभी-अभी यहाँ जन्म-महोत्सव मनाया जा रहा था। लेकिन जहाँ से निकल करके आ रहा है, वहाँ पर मरणकृत शोक छाया होगा। यह मात्र अज्ञान के खेल हैं। तो मरण क्या है? मरण, जीवन के अभाव का नाम है। जैसे- दीपक जल रहा है। वायु का एक झोंका आ जाता है तो दीपक बुझने लगता है, भले ही उसमें तेल और बाती भी अभी जमाई हो, तब भी वह बुझ जाता है। इसी प्रकार आयुकर्म का क्षय होना अनिवार्य है। जब आयुकर्म का क्षय होना अनिवार्य है तो हम इसे समझ लें कि आयु क्या है? आयु एक प्राण है। दश प्राण होते हैं उनमें से एक आयु भी है "दशप्राणैर्जीवति इति जीव:"। दश प्राण इसलिए कह रहा हूँ कि यहाँ पर मनुष्य की विवक्षा रखी गई है। अर्थात् जो दश प्राणों से जीता था वह जीव है, जो अब भी जी रहा है वह जीव है तथा जो आगे भी जियेगा, वह जीव है। "अजीवत् जीवति जीविष्यति इति वा जीवा: प्राणिन:'। इन प्राणों का अभाव होना ही मरण है। आयु का अभाव होना ही मरण है। आयुकर्म का क्षय होना ही मृत्यु है। संसारी प्राणी मरण से भयभीत है, अत: समझ सके कि यह घटना क्या है? आयु का क्षय- अभाव क्यों आता है? जिस अभाव को वह नहीं चाहता तो वह क्यों होता है? जो इसे चाहते हैं वह क्यों नहीं होता? अनचाहा होता है तो उसके ऊपर हमारा अधिकार क्यों नहीं?

सन्तों का कहना है-हमें उस ओर नहीं देखना है, जहाँ सूर्य का प्रवास चलता है, यात्रा चलती है अविरल रूप से १२ घण्टे। वह चलती ही रहती है। कभी रुकती नहीं, वह नियम है। कभी किसी को पीछे मुड़कर देखता नहीं और ना ही किसी की प्रतीक्षा करता है सूर्य। उसका यह कार्य है। लोग इसे पसंद करें, ठीक। नहीं करें, तो भी ठीक। वह चलता ही रहता है। इसी प्रकार आयुकर्म का खेल है। वह निरन्तर क्षय को प्राप्त होता रहता है। **आयुकर्म क्या है? आयु, आठ कर्मों में एक कर्म है, जिसका सम्बन्ध काल के साथ है लेकिन यह काल नहीं है। हमारा सम्बन्ध कर्म के साथ हुआ, न कि काल के साथ। हा! कर्म का सम्बन्ध कितने काल तक रहेगा, उसमें कितनी शक्ति है, कितने-किस प्रकार के उसमें परिवर्तन हो सकते हैं और कब, यह सब काल के माध्यम से जानते हैं।**

"आयु" कहते ही हमारी दृष्टि काल की ओर चली जाती है, लेकिन यह ठीक नहीं। क्योंकि दृष्टि से ही सृष्टि का निर्माण हुआ करता है। जिसके साथ आपका सम्बन्ध है उसी को देखिये। काल कोई वस्तु नहीं है। मैंने कल कहा भी था कि चेतनाएं तीन होती हैं-कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतना। जीव का सम्बन्ध इन चेतनाओं के साथ हुआ करता है, अनुभव के साथ हुआ करता है, अन्य कोई चौथी काल चेतना नहीं है। अत: काल के साथ जीव का कोई भी सीधा सम्बन्ध नहीं है। यह बात अलग है कि काल, कर्म को नापने का माध्यम है। जैसे- ज्वर को थर्मामीटर के माध्यम से नापा जाता है। ज्वर आते ही थर्मामीटर की याद आती है और उसको भिन्न-भिन्न अंगों पर लगाकर देख लिया जाता है। ज्वर थर्मामीटर को नहीं आता अर्थात् थर्मामीटर ज्वरग्रस्त नहीं होता, मात्र वह बता देता है। ज्वर तो हमारे अन्दर ही है। ज्वर, थर्मामीटर के अनुरूप भी नहीं आता, क्योंकि एक तो बुखार आने के उपरान्त ही उसका प्रयोग किया जाता है, आवश्यकता पड़ती है। दूसरी, पहले तो थर्मामीटर नहीं थे। मात्र नाड़ी के माध्यम से जान लेते थे। आज थर्मामीटर भी ९४ के नीचे काम नहीं करता और १०८ के ऊपर भी नहीं। कितनी गर्मी है, पता नहीं चलता। एक हड्डी का बुखार हुआ करता है, वह थर्मामीटर में आता ही नहीं, फिर भी ज्ञान का विषय तो बनता ही है। अर्थ यह हुआ थर्मामीटर होने से बुखार नहीं आता। वह तो मात्रा नापने में एक यन्त्र का काम करता है। उस यन्त्र में हम नहीं घुसें, और न उसके बारे में ज्यादा सोचे, सिर्फ इसके कि बुखार कितना आया? कब तक रहेगा? जायेगा कि नहीं? इसके उपरान्त इलाज प्रारम्भ हो जाना चाहिए।

इसी तरह आयु कहते ही हमारे दिमाग में काल की चिन्ता नहीं होनी चाहिए? कि अब कितना काल रह गया, क्या पता? काल रहता नहीं, काल टिकता नहीं, काल जाता नहीं, काल तो अपने-आप में है। फिर क्या वस्तु है काल? इसको हम आगम के माध्यम से या अनुमान के माध्यम से जान सकते हैं। भगवान् की वाणी द्वारा जो उपदिष्ट हुआ है, उस पर श्रद्धान कर समझ सकते हैं। "काल कोई जानकार वस्तु नहीं है, जो हमें जान सके। हम ही उसे जानने की क्षमता रखते हैं" लेकिन वर्तमान में नहीं है, यह बात अलग है। वह केवल श्रद्धान का विषय है। भगवान् ने जो कहा, उसको हम मानते चले जाते हैं। काल के माध्यम से अपने-आपको आंक सकते हैं। काल हमारे परिणमन का ज्ञापक है और इन परिणमनों के लिये सहायक काल है। काल निष्क्रिय है, उसके पास पैर नहीं, हाथ नहीं, ज्ञान नहीं। उसके पास अपना अस्तित्व है, अपना गुण-धर्म और अपना स्वभाव है। इस

काल के बिना आयुकर्म क्या करता है? नियम से अपने परिणामों के अनुरूप परिणमन करता चला जाता है। उसकी कई अवस्थाएं हुआ करती हैं, जिनका उल्लेख धवला, जयधवला एवं महाबन्ध में किया है।

"आयुक्खयेण मरणं" जैसे दीपक के तेल और बाती का समाप्त होना उसकी मृत्यु है, अवसान है। उसी प्रकार संसारी प्राणी के घट में भरा हुआ आयुकर्म समाप्त हो जाना। फिर चाहे वह मोटा-ताजा हो, हष्ट-पुष्ट हो या पहलवान भी क्यों न हो, बाहर, से बिल्कुल लाल-सुर्ख टमाटर के समान दीखने वाला हो, उसका भी अवसान बहुत जल्दी हो जाता है, क्योंकि भीतर आयुकर्म समाप्त हो गया।

एक व्यक्ति ने कहा था- महाराज जी! आजकल तो जमाना पलट रहा है। वैज्ञानिक, वस्तु की स्थायी सुरक्षा का प्रबन्ध करने जा रहे हैं। बस, चन्द दिनों में उस पर कन्ट्रोल कर लेंगे। कोई भी वस्तु को मिटने नहीं देंगे। यदि मिटती भी है तो समय-पूर्व नहीं मिट सकती। जैसे शास्त्रों में जहाँ कहीं भी मर्यादा सम्बन्धी व्यवस्था की गई है, कि आटे की सीमा गर्मी में पांच दिन, ठण्ड में सात दिन और वर्षा में तीन दिन। लेकिन अब एक ऐसा यन्त्र विकसित हो गया है (बन गया है) कि उसमें आटा रखने से उम्र ज्यादा पाता है, उसकी सीमा अधिक दिन तक की हो जाती है। आज जो बेमौसमी फल बगैरह मिल रहे हैं, वह सभी उसी की देन है। अब दीवाली में भी आम खा सकते हैं। आमतौर पर दीपावली में आम नहीं आ सकते, लेकिन फ्रिज में रख करके-बे-मौसम के खाने के काम आते हैं।.... बात बिल्कुल ठीक है कि आप एक फल जो कि पेड़ से तोड़ा गया है, रेफ्रिजरेटर में रख दीजिए, लेकिन उसके अन्दर भी काल विद्यमान रहता है और वह परिणमन करने में सहायक होता है, क्योंकि परिणमन करना वस्तु का स्वभाव है।

"वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य"

कालद्रव्य का माध्यम बना करके प्रत्येक वस्तु का परिणमन निरन्तर चलता रहता है। यदि उस आम को ८-१० दिन के बाद, जब निकाल कर खायेंगे, तक रूप में, गन्ध में, रस में, वर्ण में और स्पर्श में नियम से अन्तर मिलेगा। यह बात अलग है कि इन्द्रियों के "अण्डर" में हुआ व्यक्ति उस रस के, रूप के और गन्ध के बारे में पहचान न कर पाये, लेकिन उनमें परिवर्तन तो प्रति समय होता जा रहा है। यही आम का मरण है। रूप का, रस का, गन्ध का, स्पर्श का और वर्ण का मरण है। प्रत्येक का मरण है।

ध्यान रखिए! मात्र मरण का कभी भी मरण नहीं होता। **कोई अजर-अमर है तो वह मरण ही है। कोई नश्वर है तो वह जीवन है। आयु ही जीवन है और उसका क्षय होना नश्वरता है, मरण है।**

कर्मों का क्षय करना है, लेकिन सुनिये! आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की निर्जरा बताई गयी है आगम में। कर्म मात्र हमारे लिए बैरी नहीं। "आठ कर्मों की निर्जरा करो" ऐसा व्याख्यान करने वाला अभी भूल में है। जिनवाणी में आठ कर्मों की निर्जरा के लिए नहीं लिखा, किन्तु सात को लिखा है, आयुकर्म की निर्जरा नहीं की जाती है। जो आयुकर्म की निर्जरा में उद्यमशील है उसे "हिंसक" यह संज्ञा दी गई है।

जो आयुकर्म को नष्ट करने के लिये उद्यत है, कि "किसी भी प्रकार से जल्दी-जल्दी जीवन समाप्त हो जाए।" इस प्रकार की धारणा वाला व्यक्ति, ना जीवन का रहस्य समझ पा रहा है, ना मृत्यु का। कर्म-सिद्धान्त के रहस्य को समझने के लिए, अध्ययन करने के लिए, यदि एक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति भी जीवन खपा दे, तो भी मैं समझता हूँ, अधूरा ही रहेगा। फिर १० दिन के शिविरों में कर्म के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं समझ पायेंगे। कर्म के भेद-प्रभेद, उनके गुण-धर्म आदि-आदि बहुत विस्तार हैं। कहने को मात्र १४८ कर्म हैं, लेकिन उनके भी असंख्यतालोकप्रमाण भेद हैं। इनका सम्बन्ध हमारी आत्मा के साथ है। इनका फल भी आत्मा को भोगना होता है और इनके करने का श्रेय भी आत्मा को है, अतः कर्त्ता-भोक्ता दोनों आत्मा ही है। अपने भावों का कर्त्ता होते हुए भी, कर्मों का कर्त्ता कैसे बना? अपना परिणमन करता हुआ अन्य भावों को पैदा करने में योगदान कैसे देता है? इस सबका हिसाब-किताब बहुत गूढ़ हैं। अतः इनके रहस्य को समझें।

आयुकर्म हमारे लिए प्राण है। प्राण- मतलब जिसके माध्यम से हमारा वर्तमान जीवन चल रहा है। वह पेट्रोलियम का काम करता है। आपको सम्मेदशिखर जी की यात्रा करनी है। आपने एक मोटर की। उसमें एक पेट्रोल टैंक भी रहता है। वह क्या करता है? वह मोटर को चलाता है और यात्री ऐशो-आराम के साथ यात्रा सम्पन्न कर लेता है। अब यदि पेट्रोल टैंक फट जाय तो क्या होगा? गाड़ी तो बहुत बढ़िया है, ब्रेक भी ठीक है। ड्राइवर भी ठीक है- शराब भी पीकर के नहीं बैठा, आराम के साथ, यन्त्र देख-देखकर वह गाड़ी को चला रहा है। फिर भी पेट्रोल समाप्त हो जाने से आगे नहीं चलेगी वह, आप भी नहीं जा सकेंगे। मतलब पेट्रोल समाप्त, गाड़ी बन्द, यात्रा समाप्त। पेट्रोल क्या है? यही तो उस गाड़ी का आयुकर्म है।

आयुकर्म के बारे में बहुत समझना है, बहुत शान्ति से समझना है। उसकी उदीरणा-अपकर्षण-उत्कर्षण आदि-आदि जो भंग/करण हैं, वह बहुत कुछ सोचने के विषय हैं, चिन्तनीय हैं। जीवन तो आप चाहते हैं, लेकिन जीवन की सामग्री के बारे में आप सोचते ही नहीं हैं। इसी से आपका पतन हो रहा है। मंजिल तक नहीं पहुँच पा रहे हैं। कामना पूर्ण नहीं हो पा रही है। आयुकर्म आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होता है तो भावों के द्वारा ही स्थितियां और अनुभाग के साथ वर्गणाएं कर्म के रूप में परिणत हो कर आ जाती हैं। ऐसा पेट्रोलियम आपके साथ विद्यमान है तो जो काल के ऊपर आधारित नहीं, किन्तु अपना परिणमन वह पृथक् रखता है। जैसे दो कैरोसिन की गैसबत्ती है। वे तेल के माध्यम से जलती हैं। रात में आपको कुछ काम करना था, अतः दुकान से किराये पर ले आये। दुकानदार से पूछा- यह कब तक काम देंगी? १२ घण्टे तक। अच्छी बात है। अब उन्हें लाकर काम चालू कर दिया। दिन डूबते ही आपने बत्तियां जला दीं। लेकिन चार घण्टे के उपरान्त, एक बन्द हो गयी, बुझ गई। तो वह दूसरी के सहारे काम करता रहा, रात के बारह बजे तक सुबह जाकर के दुकानदार को कहा- मैं तो एक गैसबत्ती का किराया दूंगा, एक का नहीं। क्यों भैय्या क्या बात है? एक बत्ती ने काम नहीं दिया, हो सकता है आपने इस गैसबत्ती में कैरोसिन कम डाला हो। मालिक ने कहा- नहीं जी, ऐसी बात नहीं है। मैंने नापतोल का तेल और हवा भर दी थी, फिर इसने काम नहीं किया तो उसमें कुछ गड़बड़ी होनी चाहिए। उसने देखा कि एक सुराख हो गया है तेल टैंक में। यानि बर्नर के माध्यम से जो तेल जाता था, वह तो प्रकाश के लिए कारण बनता है, किन्तु जो एक छिद्र हो गया है वह बिना प्रकाश दिये कैरोसिन को निकाल देता है। इसीलिए वह चार घण्टे में समाप्त हो गया। जिसे ८ घण्टे और चलना था, वह पहले ही समाप्त हो गया। हम पूछना चाहते हैं कि क्या तेल १२ घण्टे के लिए डाला गया था या चार घण्टे के लिये? तेल तो १२ घण्टे का डाला, किन्तु छिद्र होने से बीच में ही समाप्त हो गया। अपनी सीमा तक नहीं पहुँच सका। इसी प्रकार आयुकर्म है। वह अपनी स्थिति को ले करके बंधता है लेकिन बीच में उदीरणा से स्थिति पूर्ण किये बिना ही समाप्त हो जाता है। इसमें कर्मों का कोई दोष नहीं, कर्मों का आधारभूत जो नोकर्म शरीर रूपी गैसबत्ती उसकी खराबी हो। इसकी खराबी का कारण भीतरी कर्मों को दोष नहीं देना चाहिये। कर्म जिस समय बंध को प्राप्त होता है तो चार प्रकार से बंध हुआ करता है- प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग।

प्रकृतिबन्ध- स्वभाव को इंगित करना। प्रदेशबन्ध- कर्मवर्गणाओं की गणना करता है। स्थिति बन्ध काल को बताता है कि इतने समय तक वहाँ रहूँगा जबकि काल द्रव्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, मात्र अपनी क्षमता को काल के माध्यम से घोषित कर रहा है। और अनुभाग बन्ध अपने परिणामों को बताने वाला होता है। यह चार प्रकार के बन्ध एक ही समय में हुआ करते हैं। ऐसा नहीं है कि पहले प्रकृति बन्ध हो, फिर प्रदेश बन्ध या पहले स्थिति बन्ध, फिर अनुभाग बन्ध। पहले कुछ प्रदेश आ जाए, फिर शेष तीन प्रकार का बन्ध हो, ऐसा भी नहीं। जिस समय लेश्याकृत मध्यम परिणाम होते हैं वह समय आयुकर्म के बन्ध के योग्य माना गया है, ना कि अन्य परिणामों का। अब समझ लीजिए- किसी ने अस्सी साल की आयु की स्थिति प्राप्त की अर्थात् ८० वर्ष तक, वह कर्म टिकेगा, इससे आगे नहीं। लेकिन यदि बन्ध के बाद परिणामों में विशुद्धि आ गई तो स्थिति बढ़ जाने को उत्कर्षण कहते हैं और यदि परिणामों में अधः पतन/अवपतन/संक्लेश हो गया तो स्थिति और घट गई, वह अपकर्षण है। ये दोनों ही करण असली आयुकर्म की अपेक्षा से इस जीवन में बन सकते हैं। जिसका उदय चल रहा है जैसे-मनुष्यायु, तो इसमें ना उत्कर्षण संभव है, ना अपकर्षण। इसमें तो उदीरणा संभव है। जितने भी निषेक, कर्मवर्गणाएं हमें प्राप्त हो गई हैं, उनका समय से पूर्व अभाव अर्थात् उदीरणा संभव है। इसी का नाम आचार्यों ने धवला में "कदलीघातमरण" कहा है। कदलीघातमरण यानि केले का पेड़ जो बिना मौत के मार दिया जाता है। क्योंकि वह ज्यों ही फल दे देता है, त्यों ही किसान लोग उसे काट देते हैं, कारण कि उसमें दुबारा फल नहीं आता। इसलिए ताजा रहते हुए भी उसको समाप्त कर देते हैं। इसी प्रकार बाहरी निमित्त को लेकर आयुकर्म की उदीरणा होती है।

आयुकर्म की स्थिति और मरण का काल, ये दोनों ही समान अधिकरण में नहीं होते हैं। अर्थ यह हुआ कि स्थिति को पूरा किये बिना ही वे सारे के सारे कर्म बिखर जाते हैं। कर्म-कार्मण शरीर का आधार होता है और कार्मण शरीर-नोकर्म का। ज्यों ही नोकर्म समाप्त हो गया, त्यों ही कार्मण शरीर की गति प्रारम्भ हो जाती है। एक आयुकर्म का अवसान हो जाता है पूरी स्थिति किये बिना ही। वीरसेन स्वामी का कहना है यदि "जिसकी २५ वर्ष की उम्र में मृत्यु हो गई तो उसकी उम्र २५ वर्ष की ही थी"-ऐसा जो कहता है वह एक प्रकार से कर्म-सिद्धान्त का ज्ञान नहीं रखता। उन्होंने कहा

है कि आयुकर्म का क्षय और उसकी स्थिति का पूर्ण होना एक समयवर्ती नहीं है। अर्थात् उस व्यक्ति की उम्र अभी भी ५५वर्ष शेष थी, जिसको पूर्ण किये बिना ही उदीरणा के द्वारा अकालमरण को प्राप्त कर लेता है।

अकालमरण का मतलब यह कदापि नहीं है कि वहाँ पर कोई काल नहीं था। अकालमरण का अर्थ वही है, जो कदलीघातमरण का और जो स्थिति को पूर्ण कर मरता है वह सकालमरण का अर्थ है। इस अकालमरण की अपेक्षा या उदीरणा मरण की अपेक्षा से भी भगवान् के ज्ञान में विशेषता झलकती है। वह क्या विशेषता है? भगवान् ने मृत्यु को देखा और साथ-साथ उसको अकालमरण के द्वारा देखा।

अकालमरण का अर्थ ऐसा नहीं लेना चाहिए, जैसा कि कुछ लोग लेते हैं। वे डर की वजह से अकालमरण को ही अमान्य कर देना चाहते हैं। लेकिन ऐसा संभव नहीं है। दुनिया में एक ऐसी भी मान्यता है कि आयुकर्म तो रहा आवे और शरीर छूट जाबे तो उसे प्रेतयोनि में जाना पड़ता है और जब तक आयु पूर्ण नहीं हो जाती तब तक उसे वहीं भटकना पड़ता है। (जैसे कि आप लोग राकेट को पेट्रोल भरकर भेज देते हैं ऊपर, तो भटकता रहता है-घूमता रहता है वह) अतः उसका श्राद्ध करो, उसकी शान्ति करो, आदि-आदि कार्य करते हैं। नहीं तो सिर पर आ जाएगा। जैसे "स्काइलेब" के द्वारा आप लोग डर रहे थे। उसी प्रकार से भी डरते रहते हैं कि हमारे ऊपर वह भूत सवार न हो जाये। लेकिन कुन्दकुन्द भगवान् ने कहा है - "आयुक्खयेण मरणं" अर्थात् आयुकर्म के निषेक रहे आवें और मृत्यु हो जाए, यह संभव ही नहीं तथा आयुकर्म समाप्त हो जावे और जीवन रहा आवे, उतने ही निषेक थे। लेकिन ऐसा संभव कदापि नहीं कि स्थितिबन्ध तो ८० वर्ष का था और २५ साल में ही जिसका अभाव हो गया, कदलीघातमरण हो गया, और भी कम में हो सकता है तो उतनी ही उम्र थी, ऐसा नहीं समझना चाहिए। उसकी क्षमता अधिक होती है। इसको एक अन्य उदाहरण से समझ लीजिए-

किसी एक व्यक्ति को नौकरी मिल गयी, कोई भी डिपार्टमेन्ट में। इस डिपार्टमेन्ट में नौकरी तो मिल गई- बहुत अच्छा काम मिला, लेकिन कब तक रह सकता हूँ? ५० वर्ष तक तुम रह सकते हो। अच्छी बात है, इसके बाद कुछ और भी बातें लिखाई गई और कह दिया गया कि इन शर्तों के अनुसार आप ५० वर्ष तक नौकरी कर सकते हैं। वेतन भी इतना-इतना

मिलेगा, सब तय हो गया। एक दिन उसी कर्मचारी ने बदमाशी की, तो उन्होंने निकाल दिया, सस्पेण्ड कर दिया गया। अब वह कहता है कि हम तो हाईकोर्ट में नालिश करेंगे, आपने कहा था कि ५० वर्ष तक काम कर सकते हैं, फिर बीच में क्यों निकाला? यह कहाँ का न्याय है? उन्होंने कहा- हमने यह कहा था कि, हमारे जो कानून हैं उनके अनुसार चलोगे तो ५० वर्ष तक काम देंगे। इसका मतलब यह नहीं कि तुम यद्वा तद्वा करो। "चेयर" के ऊपर बैठ जाओ और ऊंघते रहो, काम कुछ भी न करो, मात्र वेतन के लिए हाजिरी लगा दो, यह कैसे चलेगा। कानून भंग होते ही बीच में काम से हाथ धोना पड़ सकता है। यदि सज्जन हैं तो बात ही अलग है। इसी प्रकार आयुकर्म बंधने के उपरान्त कुछ ऐसी स्थितियां भी आती हैं जिनमें स्थिति को पूर्ण किये बिना ही मृत्यु को प्राप्त कर सकते हैं और नहीं भी।

इस रहस्य को समझना है कि क्या मृत्यु को हम बचा सकते हैं? प्रश्न बहुत ही विचारणीय है, तेज है, समस्याप्रद है। क्योंकि हम जानते हैं कि आयुकर्म को ढाला नहीं जा सकता, रोका नहीं जा सकता, परिमाण कितना है? गिना नहीं जा सकता, फिर कैसे इसकी रक्षा करें, मृत्यु से बचें? इसी के द्वारा जीवन चल रहा है। आचार्यों ने इसके विषय में उलझन न करके सुलझी-सी बात कही है- कि कर्म के ऊपर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं। स्वयं का भी अधिकार नहीं हैं। तब अन्य का क्या? कौन-सा कर्म कब और किस रूप में उदय में आ रहा है, आ जाए, इसको हम नहीं जान सकते। कोई भी रसायन ऐसा नहीं है कि जो कर्मों को रोक सके, दबा सके। वे तो अपने आप अबाधित गाति से निकाल रहे हैं। तब आचार्यों ने कहा कि - आयुकर्म की रक्षा तो कर नहीं सकते, लेकिन आयुकर्म की जो उदीरणा हो रही है, उसे रोक सकते हो। उस उदीरणा के स्रोत कौन-कौन से हैं, तो कहा है- भयानक रोग के माध्यम से, भुखमरी से, श्वास के रोकने से, शस्त्र के प्रहार से, अति संक्लेशपरिणामों से तथा विषादिक के भक्षण से, ऐसे अनेक कारण हो सकते हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने अष्टपाहुड में भी अकालमरण के निमित्तों को लेकर एक तालिका ही दे दी है। उन जैसा विश्लेषण अन्यत्र नहीं मिलता। उन्होंने एक बात बहुत मार्के की कही है कि अनीति नाम के हेतु से भी यह संसारी प्राणी अतीतकाल में अनन्तबार अकालमरण का कवल (ग्रास) बन चुका है।

आज के इस जमाने को देखने से ऐसा लगता है कि अनीति पर कोई

भी रोक-टोक नहीं है। "अन्धेरी नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा"। आज कोई व्यक्ति कन्ट्रोल में नहीं है। लोकतन्त्र का जमाना और उसमें भी अनीति का बोलबाला है। अनीति राज्य कर रही है हमारे जीवन पर, फिर भी हम सम्यग्दर्शन की चर्चा कर रहे हैं। आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने कहा है कि- जिस व्यक्ति के जीवन में बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह के प्रति भीतर से पीड़ा नहीं, उस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन की भूमिका का भी सवाल नहीं उठता। आचार्य समन्तभद्र ही नहीं, और भी कई आचार्य हुए हैं, जिन्होंने अनीति का खुलकर निषेध किया है। आज जो यद्वा-तद्वा व्यापार कर रहा है। घूसखोरी देकर के या और भी कुछ देकर, देने को तैयार है। नेता बनने का प्रयास कर रहा है, उसका सर्वप्रथम निषेध जैनाचार्यों ने किया है। उन्होंने कहा है- "न्यायोपात्तधनं"। न्याय के साथ जो धन कमाया जाता है वही आगे जाकर के धर्म-साधन में सहायक होगा। अन्याय के साथ जो धन कमाता है, वह तीन काल में भी मुमुक्षु नहीं बन सकता। उसकी बुभुक्षा, पिपासा इतनी है कि वह तीन काल में भी अपने जीवन को सम्हाल सके, असंभव है। फिर सम्यग्दर्शन कोई आसान चीज नहीं है, सम्यग्ज्ञान कोई आसान नहीं है, सम्यक्चारित्र तो और भी लम्बी-चौड़ी बात है। सम्यग्दृष्टि का भी चारित्र होता है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने सम्यक्त्वाचरण चारित्र की परिभाषा बताते हुए अष्टपाहुड में कहा है- **जिस व्यक्ति के जीवन में शासन के प्रति प्रेम नहीं अर्थात् जिनशासन के प्रति गौरव नहीं, उसके जीवन में प्रभावना होना, तीनकाल में संभव नहीं।**

आज हम देख रहे हैं कि जैनियों के यहाँ भी ऐसे-ऐसे कार्य होते चले जा रहे हैं, जिनसे कि जैनशासन को नीचा देखना पड़ता है। आप भले ही यहाँ टीनोपाल के कपड़े पहनकर आयें, अच्छे से अच्छे साफ-सुथरे पहनकर आयें लेकिन वहाँ पर तो लोग कहेंगे कि ये जैन हैं।

एक जमाना था कि जब टोडरमल जी थे, सदासुखजी थे, जयचन्द जी थे और दौलतराम जी थे। ये सभी ऋषि-मुनि नहीं थे, पण्डित थे। परन्तु उनके जीवन में सदासुख-सादगी थी। गांधी जी ने विश्व में तहलका मचा दिया और स्वतन्त्रता दिला दी। क्या पहनते थे वह, क्या रहन-सहन था उनका, मालूम है? हर तरह से सादगी थी उनके जीवन में। जबकि, अब व्यक्ति ऐशोआराम में डूब रहा है। विलासता का अनुभव करने के लिए यह मनुष्य जीवन नहीं है बन्धुओं! इसमें योग और साधना की सुगन्ध आनी

चाहिए। एक बार गांधी जी को पूछा -क्या आप इस प्रकार से कपड़े क्यों पहनते है? ऐसा जीवन बिताने से क्या होगा? अरे! शरीर की रक्षा के लिए तो सभी कुछ आवश्यक है? तब उन्होंने कहा- "हमने मात्र अपने विचारों को स्वतन्त्रता देने के लिए यह संग्राम छेड़ा है।" यहाँ जीवन के नाम पर ऐशोआराम नहीं करना है। **आज देश में सबसे बड़ा संकट/सबसे बड़ी समस्या, भूख की नहीं, प्यास की नहीं, बल्कि भीतरी विचारों के परिमार्जन करने की है। इसी से विश्व में त्राहि-त्राहि हो रही है। यह समस्या धर्म के अभाव से, दया के अभाव से ही है। एक दूसरे की रक्षा करने के लिए कोई तैयार ही नहीं। जो रक्षा के लिए नियुक्त किये गये, वही भक्षक बनते चले जा रहे हैं।** एक-दूसरे के ऊपर जो विश्वास था, प्रेम था, वात्सल्य था, वह सब समाप्त होता चला जा रहा है। अपनी मान-प्रतिष्ठा के लिए आज ऐसे-ऐसे घृणित कार्य किये जा रहे हैं। जिनसे कि जिनशासन और देश को अपार क्षति हो रही है।

मेरे पास, आज से दो साल पूर्व एक बन्द लिफाफा आया था, जिसमें एक कार्टून रखा था, उसमें कहा गया कि महाराज! वनस्पति घी के नाम पर उसमें अशुद्ध पदार्थ डाले जा रहे हैं, वह भी जैनियों के द्वारा। क्या आप ऐसा न करने के लिए उन्हें उपदेश नहीं दे सकते? इस शताब्दी में ऐसे-ऐसे जघन्यतम कार्य हो रहे हैं और उसमें भी जैन सम्मिलित हैं। विश्व में वित्त की होड़ लग रही है, इसीलिए क्या हम भी वित्त कमा रहे हैं? आप अवश्य ही उपदेश दीजिए। मैंने कहा- भैय्या! मैं उपदेश देने के लिए मुनि नहीं बना हूँ, फिर भी यदि आप उपदेश चाहते हैं तो सामूहिक रूप में उपदेश दे सकते हैं। किसी एक व्यक्ति को नहीं, कारण कि वह उपदेश नहीं माना जाएगा। मुझे भी देखकर के खेद होता है कि आज जो काण्ड हो रहे हैं, उनकी चाहे व्यापार में, बहुत आरम्भ के बारे में और चाहे बहुत परिग्रह के बारे में, कोई सीमा नहीं रही है। धन का इतना अधिक लोभ करने वाले व्यक्ति के धर्म, दया, प्रेम सुरक्षित नहीं रह सकते। **जैन शासन में जो पन्थ चलते हैं, वे सागार और अनगार के हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि का कोई बन्ध नहीं होता। अविरतसम्यग्दृष्टि तो मात्र उन दोनों पन्थों का उपासक हुआ करता है।** जिसे जिनशासन के प्रति गौरव नहीं, आस्था नहीं, उसके पास चारित्र नहीं। **आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि- जिसके पास सम्यक्त्वाचरण चारित्र नहीं है उनके पास सम्यग्दर्शन**